ो व्या... प्र
प्रामाणिक है बा...
ुदा दौर में जबकि देशप्रेम
... आँसू बहाने वाले लोगों
ी है, वैसी स्थिति में प्रस्तुत पुस्तक
ूर्ण है।

स्वतंत्रता

हमारे जुझारू क्रांतिकारी

हमारे जुझारु
क्रांतिकारी

मन्मथनाथ गुप्त

अनुभव प्रकाशन
दिल्ली
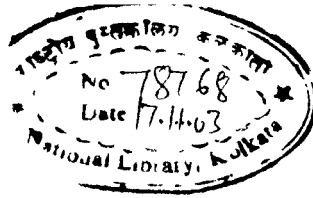
मूल्य : 125.00

प्रथम संस्करण : 2001
प्रकाशक : अनुभव प्रकाशन
प्लाट नं.—108, सचार लोक
इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली-110092
लेज़र टाइपसेटिंग : कल्पना ग्राफिक्स
इंद्रप्रस्थ एक्सटेंशन, दिल्ली-110092
मुद्रक : विकास कंप्यूटर्स एंड प्रिंटर्स
दरियागंज, दिल्ली-110032
मुखावरण : ललित कला अकादमी, नई दिल्ली के सोजन्य से

Hamare Jujharu Krantikari : by Manmathnath Gupta

शुरूआत से पहले

भारत के क्रांतिकारियों का परिचय नए ढंग से देने की जरूरत नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि भारत के क्रांतिकारियों ने भारत को आज़ाद कराने में बहुत बड़ा हाथ बंटाया, बहुत बड़ा ही नहीं बल्कि सबसे महत्वपूर्ण। मसलन केवल एक प्रश्न को लीजिए कि भारत कैसे आज़ाद हुआ? इसमें संदेह नहीं कि गाँधीजी ने बहुत बड़ी सेवा की, पर यदि सुभाषचंद्र बोस के आज़ाद हिंद आंदोलन और आज़ाद हिंद लड़ाई न होती और [illegible] की मुक्ति सेना न होती तो भारत कभी आज़ाद नहीं हो सकता था।

मैंने सारी जिंदगी इन लोगों की सेवा में अपना कार्य किया। पर वह अत्यंत तुच्छ सेवा थी। श्री जयप्रकाश भारती को शब्दशः धन्यवाद देता हूँ।

नई दिल्ली
4 जुलाई 1995

[illegible]

क्रम

कुछ और क्रांतिकारी
(संक्षिप्त परिचय)

सोहनलाल पाठक

मातृभूमि से बहुत दूर देश की सेवा करते हुए फाँसी पा जाने वाले सोहनलाल पाठक का नाम बहुत ही कम लोगों को मालूम है। युग था प्रथम महायुद्ध का। वह अमरीका में गए हुए थे और वहाँ से गदर पार्टी का दूत बनकर बर्मा में क्रांति कराने के लिए भेजे गए थे। वह विशेषकर फौजों में क्रांति की भावना भरने के लिए काम कर रहे थे। किसी भी क्रांति के लिए यह सबसे ज़रूरी कार्य है क्योंकि फौज़ मिली रहे तो उस सरकार का तख़्ता नहीं उलट सकता। सोहनलाल जहाँ भी जाते, भारतीय फौजों से यह कहते—''भाइयो, अंग्रेज़ों के लिए फिजूल में क्यों जान देते हो, यदि तुम्हें मरना ही है तो देश के लिए मरो। तुम्हारी भुजाओं के बल से देश को आज़ादी मिले यह अच्छा है या तुम अंग्रेज़ों के लिए जान दे दो यह अच्छा है?'

इसी तरह सैनिकों में विद्रोह का प्रचार करते हुए पकड़े गए। एक जमादार उनकी गतिविधियों को ताड़ रहा था। उसपर कोई असर नहीं हो रहा था, इसके विपरीत वह उन्हें पकड़वाने के फेर में था।

जब उसने सोहनलाल को फौजी छावनी में बेखटके विचरते हुए देखा और उसने यह समझ लिया कि ऐसे आदमियों को गिरफ्तार कराने में लाभ हो सकता है, तो वह सोहनलाल के पीछे पड़ गया। जब सोहनलाल बोलकर अलग हो चुके थे, तो वह आदमी

उनके पास आया।

सोहनलाल ने सोचा कि शायद यह जमादार कुछ भेद की बात करना चाहता है, इसलिए वह मुझसे अकेले में मिलना चाहता है। अतः उन्होंने कहा—''बोलो''।

थोड़ी देर तक दोनों एक-दूसरे को देखते रहे। शायद जमादार अंतिम बार सोचता रहा कि इन्हें पकड़वाऊँ या न पकड़वाऊँ। सोहनलाल भी सोचते, देखते रहे कि यह क्यों इस तरह मेरी तरफ लाल-लाल आँखें निकालकर देख रहा है। इतने में सोहनलाल ने देखा कि वह थर-थर काँप रहा है और तुरंत ही उस व्यक्ति ने भर्राई हुई आवाज़ से कहा—''साहब के पास चलो।'' कहकर उसने सोहनलाल के हाथ पकड़ लिए। सोहनलाल बहुत दिनों से क्रांति का प्रचार करते हुए फौज़ों में घूम रहे थे। कोई उनकी बात सुनता और कोई नहीं सुनता। पर ऐसा तजुर्बा कभी नहीं हुआ था। वह चौक पड़े पर कहा जाता है कि उन्होंने न हाथ छुड़ाने की कोशिश की और न भागने की कोशिश की। जमादार उनसे तगड़ा भी था, पर वह निहत्था था। सोहनलाल की जेब में पिस्तौलें और इतने कारतूस थे कि वह अकेले घंटे-भर तक एक फौज की टुकड़ी का मुकाबला कर सकते थे। उनके पास कई सौ कारतूस थे और तीन ऑटोमैटिक पिस्तौले थी। वह चाहते तो उस जमादार को वहीं पर मारकर उसकी छाती पर बैठ जाते और कहते कि चल, चलता क्यों नहीं। पर सोहनलाल उस समय कुछ और ही सोच रहे थे। वह भारतीय सैनिक को मारने का प्रण लेकर नहीं चले थे। वह तो अंग्रेज़ों से वैर रखते थे। इसलिए उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—''क्यों? क्या तुम हमें पकड़वाओगे? तुम? तुम? ज़रा सोचो तो सही कि तुम क्या कर रहे हो? भाई होकर भाई को पकड़वा दोगे? कैसे भाई हो? क्या गुलामी में ही तुम्हें मज़ा आता है?''

सोहनलाल ने अपनी जेब में हाथ नहीं डाला और न यह चेष्टा की कि गुमराह भाई को सज़ा दी जाए। अपने भाई के खून से अपने हाथ को क्यों रँगा जाए? एक बार उनका हाथ जेब की तरफ गया भी, पर उन्होंने गोली चलाने से इनकार किया। नतीजा यह हुआ कि वह गिरफ्तार कर लिए गए। जब उनकी तलाशी ली गई तो उनके पास से हथियार तो मिले ही, इसके अलावा उनके पास जहाने इस्लाम की एक प्रति मिली, जिसमें प्रसिद्ध क्रांतिकारी विद्वान लाला हरदयाल का लिखा हुआ एक लेख था। इसके अलावा मौलवियों के लिखे हुए कुछ फतवे थे, जिनमें यह कहा गया था कि अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ना उचित है और मुसलमानों के लिए अंग्रेज़ों के पक्ष में लड़ना हराम है। मौलवियों ने इस कारण यह फतवा दिया होगा कि इस युद्ध में तुर्की जर्मनी के पक्ष में था और तुर्क अंग्रेज़ों के विरुद्ध थे। ये सारे प्रमाण काफी थे, पर इसके अलावा उनकी जेब में बम का एक नुस्खा भी था तथा 'गदर' पत्रिका का एक अंक भी था।

कहना न होगा कि वह सारा सामान उनको फाँसी दिलाने के लिए काफी था। फौज़ों में विद्रोह-प्रचार से फाँसी होती है। एकदम विदेश, जहाँ कोई उनकी भाषा नहीं समझता था, वहाँ जाकर उन्होंने क्रांति का प्रचार किया और इस प्रकार गिरफ्तार हो गए।

अब यह देखा जाए कि यह सोहनलाल पाठक कौन थे। वह अमृतसर के पट्टी नामक स्थान में गरीब घराने में पं. चन्दाराम के घर 7 जनवरी 1883 को पैदा हुए थे। यदि कोई उस समय कहता कि यह बाद को चलकर एक महान क्रांतिकारी होंगे, तो कोई विश्वास नहीं करता, क्योंकि वह इतने दुबले और कमज़ोर थे कि कहा जाता है कि उनकी दादी एक तिनके से उन्हें हिलाती थीं और डरकर पीछे हट जाती थीं। किसी को भी यह विश्वास नहीं था कि यह बच्चा ज़्यादा दिन ज़िन्दा रह सकता है। इनके पिता बहुत गरीब थे। केवल आधा बीघा ज़मीन के मालिक थे और उन दिनों अनाज बहुत सस्ता था यानी खेती की कमाई बहुत थोड़ी थी। जब सोहनलाल वहाँ से मिडिल स्कूल में भर्ती हुए, तो पाँचवीं कक्षा तक उनकी फीस माफ़ रही। इसके बाद उन्हें दो रुपए माहवार वजीफा मिलता रहा। यह वजीफा 8 वीं कक्षा तक जारी रहा। इसी तरह वह मिडिल पास करने के बाद नॉर्मल पास करने के लिए आगे बढ़े, तो कमज़ोर होने के कारण डॉक्टर ने उन्हे अनफिट कर दिया। तब उन्हें प्राइमरी स्कूल में 6 रुपए की नौकरी करनी पड़ी। 1901 में सोहनलाल की शादी श्रीमती लक्ष्मीदेवी से हुई। उन दिनो आर्यसमाज का काफी जोर था। डी. ए. वी. कॉलेज के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज का काफी नाम था। वह युग कुछ और था। आर्यसमाज के प्रचारको में और दूसरे लोगों में तर्क-वितर्क हुआ करता था और सोहनलालजी इसमें मज़ा लेते थे। वह आर्यसमाज की तरफ झुके, क्योंकि सनातनियों के मुकाबले में वे प्रगतिशील थे।

1903 मे उनकी माता कृपादेवी प्लेग से बीमार हुईं। उनसे कहा गया कि बच्चों को खबर दी जाए, तो उन्होंने मना कर दिया कि मै तो जा ही रही हूँ, बच्चे यहाँ आ जाएँ और उनकी ज़िन्दगी खतरे में पड़े यह मै नहीं चाहती। फिर भी किसी तरह सोहनलालजी को खबर मिल गई और वह पहुँचे तो मालूम हुआ कि उनकी बड़ी भौजाई मर चुकी थीं। बड़े भाई पंडित नानकचन्द प्लेग से बीमार हैं। माताजी का तो पहले ही स्वर्गवास हो चुका था।

यद्यपि वह पहले नार्मल में भर्ती नहीं किए गए थे, पर बाद को किसी तरह भर्ती हो गए और उसमें पास भी हो गए। 1905 से 1908 तक उन पर बराबर राजनीतिक घटनाओं का प्रभाव पड़ता रहा। उनके एक जीवनीकार ने इन घटनाओं को गिनाया है जिनका प्रभाव उन पर पड़ा, जिनमें लाला लाजपतराय की विलायत-यात्रा, बंग-भंग, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की गिरफ्तारी, खुदीराम बोस का मुकदमा, नासिक का इसी तरह का एक मुकदमा, वीर सावरकर, मदनलाल धींगरा, लाला हरदयाल आदि की रचनाएँ तथा कार्यक्रम थे।

वह पहले धार्मिक विचारों की तरफ झुकते गए, पर धीरे-धीरे वह अब राजनीतिक व्याख्यानों में अधिक आनन्द लेने लगे। विशेषकर जब लाला लाजपतराय का भाषण होता था, उनपर इसका बहुत असर होता था। उन्हीं दिनों लाहौर सेंटर के निरीक्षक ने उनसे पूछा कि तुम नौकरी के लिए कहाँ जाना चाहते हो? सबने अपनी-अपनी बात बता दी कि मैं फलाँ जगह जाना चाहता हूँ? पर अजीब बात यह हुई कि सोहनलालजी आए तो वे नौकरी

के लिए, पर जब उनसे यह प्रश्न पूछा गया तो उन्होंने अकड़कर कहा कि मैं सरकारी नौकरी नहीं करूँगा। तब निरीक्षक ने कहा—"तुमने वजीफा तो सरकार का खाया है और नौकरी किसकी करोगे?"

इस पर पाठकजी ने कहा—"यह वजीफा मैंने कौम का खाया है, इसलिए सेवा भी कौम की ही करूँगा।"

इसपर इन्सपेक्टर क्या कहता। वह चुप हो गया। सरकारी नौकरी तो गई।

1907 की घटना है कि सोहनलाल और उनके एक साथी सरदार ज्ञानसिंह ने यह प्रतिज्ञा की कि हम देश के लिए प्राण देंगे। उनका ऐसा विचार था कि जब हम प्राण देंगे, तभी लोगों के मन से मौत का डर निकल जाएगा और लोगों में अंग्रेज़ों के प्रति घृणा उत्पन्न होगी।

सरदार ज्ञानसिंह ने इसके बाद भारत छोड़कर स्याम की यात्रा की। वहाँ वह इसलिए गए कि यह देखा जाए कि देश को आज़ाद करने का वहाँ से कोई मौका मिलता है या नहीं। अभी सोहनलाल देश में ही थे। सोहनलाल अपने काम में बहुत होशियार थे। इसलिए डी. ए. वी. स्कूल लाहौर में 21 रुपए माहवार पर नौकर हो गए। उस ज़माने में उप-निरीक्षक और निरीक्षक मि क्रास उस स्कूल का दौरा करने आए। उपनिरीक्षक ने पाठकजी से कहा कि आप अपने छात्रों से कोई कविता सुनवाएँ। तब सोहनलालजी ने अपने छात्रों को इशारा कर दिया तो उन्होंने वह गीत गाना शुरू कर दिया हकीकत राय की जीवनी पर तैयार किया गया था जिसके शब्द इस प्रकार थे :

मुसलमान होने को ऐ किबला मै तैयार हूं,
आपकी नज़र है यह सर जरा इनकार नहीं।

उपनिरीक्षक साहब मुसलमान थे। उन्होंने जो यह गाना सुना, तो वह क्लास से बाहर चले गए और उनके साथ ही अंग्रेज निरीक्षक मि. क्रास भी बाहर निकल गए। उस पर बक्शी रामलालजी जो वहाँ के प्रधान शिक्षक थे बहुत घबराए। उन्होंने पाठकजी को गुस्से में कहा—"तुमने यह क्या किया कि यह गाना सुनवा दिया।"

इसपर पाठकजी ने कहा कि आपने कोर्स में इस गाने को रखा है तो मैंने यह गाना सुनवा दिया। यदि यह गीत ठीक नहीं तो इसे कोर्स में क्यों रख दिया?

इससे सोहनलाल के व्यक्तित्व में कितनी स्वतंत्रता थी, यह व्यक्त होता है।

इस प्रकार एक कथा यह है कि वह बहुत हुक्का पिया करते थे। एकाएक उनके मन में यह प्रश्न आया कि मैं हुक्का क्यों पीता हूँ। इससे क्या फ़ायदा है। वह 8 रोज़ तक इसी प्रकार विचार करते रहे और उन्होंने यकायक हुक्का पीना बंद कर दिया।

उन्होंने अब यह अनुभव किया कि घर में रहकर नौकरी करते हुए उस तरह का काम करना सम्भव नहीं है जैसा कि वह करना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी से कह दिया कि अब मैं ज्यादा दिन तुम्हारे पास नहीं रहूँगा।

उन्हीं दिनों लाला हरदयाल की खबर मिली कि उन्होंने आई. सी. एस. का इम्तहान न देकर किस प्रकार देश का कार्य करने का विचार किया। इसका उन पर प्रभाव पड़ ही रहा था कि पाठकजी के यहाँ लड़का पैदा हुआ। आठवें दिन उनकी पत्नी बीमार पड़ गईं और तीन दिन के बाद उनका स्वर्गवास हो गया। इसी के बाद लड़का भी मर गया। नतीजा यह हुआ कि अब वह एकदम निहंग हो गए। यों उन्हें गम तो बहुत हुआ, पर उन्होंने यह सोचा कि अब हम बिल्कुल स्वतंत्र हो गए और जो चाहें सो कर सकते है।

इसी समय लाला लाजपतराय ने मजंग में दयानंद ब्रह्मचारी आश्रम खोला और उन्होंने सोहनलालजी से कहा कि आप इसमें काम शुरू कर दें। लाला लाजपतराय का 'बन्देमातरम' अखबार भी उन दिनों बहुत ज़ोरों से निकल रहा था। पत्नी की मृत्यु के बाद पाठकजी के इर्द-गिर्द बहुत-से लोग फिरने लगे कि उनकी फिर से शादी हो पर उन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। तब लोगों ने यह कहा कि आप यदि शादी नहीं करेंगे तो आपका पितृ ऋण चुकता नहीं होगा। पाठकजी ने कहा कि मैं इस बात पर विश्वास नहीं करता। पहली बात तो यह है कि अगर लड़का पैदा भी होगा तो बहुत होगा तो तीन पुश्त तक नाम चलेगा, उसके बाद लोग उनका नाम भूल जाएँगे, फिर इससे क्या लाभ?

तब लोगों ने उनसे कहा कि आप अपने घरवालों की मदद करें। पर उन्होंने कहा कि मुझे अपने देश की मदद करनी है। हम अब छोटे दायरे में नहीं रह सकते। सारी बातों को सोचकर वह 1909 में देश छोड़कर सरदार ज्ञानसिंह के पास पहुँच गए। उन दिनों श्याम बहुत खतरनाक जगह थी और वहाँ जहरीले जानवर आदि भी थे। पर उन्होंने यह उचित समझा कि देश को छोड़कर विदेश में जाकर देश के लिए काम किया जाए। उन्हें ऐसा नज़र आया कि देश में वह अपने परिवार से इतनी बुरी तरह घिरे रहते हैं कि वह कुछ कर नहीं सकते। श्याम में जाकर उन्होंने कुछ दिन व्यतीत किए। पर वहाँ भी उन्हें कुछ विशेष सुविधा दिखाई नहीं पड़ी। वह साथ ही यह चाहते थे कि अपने घर में छोटे भाई आदि रह गए हैं, उनकी भी कुछ मदद हो, पर यह समझ में नहीं आता था कि कैसे क्या हो। उन दिनों श्याम में रेल लाइन तैयार हो रही थी। पाठकजी को 80 रुपए माहवार पर वहाँ नौकरी मिल गई और बाकी साथियों को भी इसी तरह नौकरी मिल गई। उस वक्त उनका वज़न 81 पौंड था और उनकी ऊँचाई 5 फुट 9 इंच थी। पर वह बहुत फुर्तीले थे और एक बार उन्होंने लगातार 70 मील पैदल तय किया था। उस समय उनके पास एक लैम्प, एक पिस्तौल और कुछ गोलियाँ थीं।

पर यहाँ उनका मन नहीं लगा। वह सोचने लगे कि अरे, जिस बात, नून-तेल-लकड़ी, से छुटकारा पाने के लिए मैं यहाँ आया, उसी में आकर यहाँ फिर फँस गया। एक रात उनको यह स्वप्न दिखाई दिया कि भगवान कृष्ण कह रहे हैं कि तुम यहाँ वक्त खराब न करो, अमरीका की तरफ चले जाओ। बस फिर क्या था। उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया। नौकरी पर लात मार दी और वह लाला ईश्वरदासजी के साथ रवाना हो गए। उनके पहले के गुरु सरदार ज्ञानसिंह ने उन्हें बहुत समझाया पर वह माने नहीं। वह रास्ते में ही थे कि

बैंकाक में उनके साथी ईश्वरदासजी बीमार हो गए और वह वहीं मर भी गए। फिर भी पाठकजी नहीं रुके और वह वहाँ से हांगकांग पहुँचे। अब आगे बढ़ने का मौका नहीं था। इसलिए उन्होंने वहाँ फिर नौकरी कर ली। वहाँ से उन्होंने घर पर लिखा कि मेरा इरादा अमरीका जाने का है। हो सके तो 300 रुपये भेज दो। तब घरवालों ने उन्हें 300 रुपए भेज दिए। सोहनलाल हांगकांग छोड़कर मनीला पहुँचे और वहाँ एक व्यक्ति इलाराम के यहाँ ठहरे। वह वहाँ छोटे-मोटे जानवरों का शिकार किया करते थे, तो उनके साथियों ने कहा कि तुम यह क्या कर रहे हो? उन्होंने कहा कि मैं छोटे-छोटे शिकार कर रहा हूँ ताकि बड़े, बहुत बड़े जानवर—अंग्रेज़ों को मार सकूँ। इसके बाद वह मनीला गए और वहाँ से सीधे अमरीका पहुँचे। भाई परमानन्द ने फार्मेसी विद्या सिखाने के लिए उन्हें स्टेट कॉलेज में दाखिल करा दिया। वह गदर पार्टी के सदस्य हो गए। सोहनलाल का मन पढ़ने में नहीं लगा और वह सानफ्रांसिस्को चले गए। उन्होंने यह समझा कि पढ़ने में जाने कितने साल लग जाएँगे। तब तक क्या आज़ादी की लड़ाई ठहरी रहेगी। वहाँ भारतीयों में जोश था। उससे अमरीकी अफसर खुश नहीं हुए, बल्कि उन लोगों ने हर तरीके से इसके रास्ते में रोड़े अटकाना शुरू कर दिया। परिस्थिति ऐसी हुई कि लाला हरदयालजी को अमरीका से भाग जाना पड़ा। अंग्रेजों को अमरीका से सारी खबरें मिलती रहती थीं। इन्हीं दिनों सोहनलाल पाठक अमरीका से बर्मा भेजे गए। वह जापान और हांगकांग के रास्ते बैंकाक पहुँचे और वहाँ से पैदल बर्मा पहुँच गए। ऐसा लगता है कि उनके पीछे बराबर पुलिस लगी हुई थी। पर साथ ही क्रांतिकारियों में जोश भी काफी था। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है कि नारायण नाम के एक व्यक्ति थे जो उनके साथ बर्मा में विद्रोह करने के लिए आए थे।

सोहनलाल पाठक एक छावनी से दूसरी छावनी में जाते और इस प्रकार उनका प्रचार-कार्य होता। जिस प्रकार वह पकड़े गए वह हम पहले ही लिख चुके हैं।

सोहनलाल जब जेल में रख दिए गए तो उन्होंने निश्चय किया कि मैं जेल का कोई नियम नहीं मानूँगा। इसलिए जब कोई सरकारी अधिकारी उनके सामने आता, तो वह उठकर खड़े नहीं होते थे। उनका कहना यह था कि जब मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेजों के राज्य में अन्याय और अत्याचार है, तो मैं उनका नियम क्यों मानूँ। सोहनलाल यों तो खड़े न होते, पर जब कोई अफसर या व्यक्ति उनसे बात करता, तो वह उठकर भद्रता में खडे हो जाते। ऐसा हुआ कि उन्हीं दिनों बर्मा का गवर्नर वहाँ पर आया। जेलर ने देखा कि यदि सोहनलाल उठ खड़े नहीं होंगे तो बड़ी मुसीबत होगी। इसलिए उसने यह चालाकी की कि वह आकर पहले ही सोहनलाल के सामने खड़ा हो गया और उनसे बातें करने लगा। इतने में लार्ड साहब आ गए। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के प्रांतीय अधिकारी लार्ड साहब की इज़्ज़त बच गई। लार्ड साहब ने उन पर यह जोर डाला कि वह माफी की दरखास्त दे दें। बस उनको माफ कर दिया जाएगा और उनको प्राणदंड नहीं दिया जाएगा। सोहनलाल

पहले तो समझे नहीं कि क्या बात हो रही है, पर जब वह समझे तो उन्होंने यह कहा कि जुल्म और अन्याय अंग्रेजों की तरफ से हो रहा है, माफी मांगनी हो तो लार्ड साहब को ही माफी माँगनी चाहिए, न कि मुझको।

फाँसी के दिन की घटना है कि बिल्कुल फाँसी का तख्ता तैयार था और मजिस्ट्रेट साहब खड़े थे। उन्होंने यह कहा कि आपको पहले ही लार्ड साहब की तरफ से अनुरोध किया गया था, अब भी आपके सामने वह प्रस्ताव खुला हुआ है। आप केवल माफी माँग लें, तो आपकी फाँसी रोकी जा सकती है।

इसपर सोहनलाल ने फिर वही बात कही कि मुझसे ही अंग्रेज़ सरकार को क्षमा माँगनी चाहिए, क्योंकि उसकी तरफ से ज़ोर और जुल्म हुआ है, मैंने तो कोई बेजा बात नहीं की।

इस पर अंग्रेज़ मजिस्ट्रेट ने फिर से सोहनलाल की तरफ देखा और कहा कि आप व्यर्थ में जान दे रहे है। छोटी-सी बात पर आपकी जान बच सकती है, आप अपनी जान क्यों नहीं बचा लेते?

तब सोहनलाल फाँसी के तख्ते के सामने खड़े होकर बोले, "देखो, यदि तुम मुझे बिल्कुल छोड़ दो और मै जहाँ चाहूँ जा सकूँ, तब मै माफी माँगने के लिए तैयार हूँ।"

इसपर अंग्रेज़ अधिकारी ने कहा कि "मुझे ऐसा कोई अधिकार नहीं है। मुझे तो मात्र आपकी फाँसी रोकने का अधिकार है।"

तब सोहनलाल ने कहा, "तो जरा भी देर न करो और अपने कर्तव्य का पालन करो और मुझे भी अपने कर्तव्य का पालन करने दो।"

उस युग की परिस्थिति को देखते हुए सोहनलाल के साहस की जितनी भी प्रशसा की जाए वह थोड़ी है। एक तो उन्होंने बिल्कुल ऐसा क्षेत्र चुना जहाँ आशा की किसी प्रकार की रौप्यरेखा नहीं थी। दूसरे उन्होंने वहाँ बस कर कार्य किया और जैसा कि मैंने 'क्रांतिकारी आन्दोलन का इतिहास' में दिखलाया है, उस तरफ काफी फौज विद्रोह के लिए तैयार हो गई थी। इसमें सोहनलाल और उनके साथियों का ही हाथ था। पर इस सबंध में जो सबसे बड़ी बात सामने आती है, वह यह कि सोहनलाल में व्यक्तिगत साहस इतनी हद तक था कि उन्होंने अन्तिम समय में भी ज़रा-सी मुँह से माफी माँगने के लिए इनकार किया और साफ-साफ कह दिया कि तुम अपने कर्तव्य का पालन करो और मुझे भी अपने कर्तव्य का पालन करने दो।

वह फाँसी पर चढ़ गए, पर उन्होंने एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जो इतिहास में अमर है। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने पहले-पहल सोहनलाल की कहानी 'बन्दी जीवन' में लिखकर प्रचार किया, तब जाकर लोगों ने जाना कि किस तरह एक युवक देश से बहुत दूर विदेश में अकेले इस तरह क्रांति का प्रचार करते हुए शहीद हो गया।

श्यामजीकृष्ण वर्मा

श्यामजीकृष्ण वर्मा को कई अर्थों में भारत का प्रथम आधुनिक क्रांतिकारी कहा जा सकता है, क्योंकि वह भरपूर अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने, यहाँ तक कि एक प्रकार से यूरोप में बस जाने और उस महादेश को पूरी तरह जानने के बाद ही क्रांतिकारी नेता बने। वह 1857 में पैदा हुए थे और सावरकर आदि प्रथम युग के क्रांतिकारियों से उम्र में बड़े थे। कुछ अर्थों में वह विलायत में उन दिनों में जानेवाले सब क्रांतिकारियों के गुरु नहीं तो कम-से-कम अनुप्रेरक बने रहे।

1857 के 4 अक्तूबर के दिन भारत के पश्चिम में स्थित कच्छ रियासत के मान्दवी नामक गाँव में उनका जन्म मंसाली परिवार में हुआ था। उस समय कौन जानता था कि वह आगे चलकर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के इतने बड़े विद्वान और क्रांतिकारी होंगे। उनकी प्राथमिक शिक्षा गाँव में हुई। इसके बाद वह पढ़ने के लिए भुज के विद्यालय में भेजे गए। 1867 में उनकी माताजी का देहान्त हुआ। तब उनके पिता रोज़ी-रोटी की तलाश में बम्बई पहुँच गए और वहाँ उन्होंने एक सौदागरी दफ़्तर में नौकरी कर ली। उस समय वह प्रश्न

उठा कि इस बच्चे का लालन-पालन कैसे हो। तब उनकी नानी सामने आईं पर श्यामजी के पिता को यह व्यवस्था पसन्द नहीं आयी। वह चाहते थे कि बम्बई में रखकर बच्चे को अच्छी तरह शिक्षा दी जाए। बात यह है कि उन दिनों साधारण प्रकार से शिक्षा की सुविधा भी प्रान्तीय राजधानी से दूर किसी स्थान में नहीं थी। श्यामजी के पिता अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर सके क्योंकि वह बम्बई में रहने का खर्च उठाने मे असमर्थ थे और उनकी आय बहुत थोड़ी थी। बाद को श्यामजी की प्रतिभा का चमत्कार देखकर एक भाटिया व्यापारी को दया आ गई और उनकी मदद से श्यामजी के पिता अपने बेटे को बम्बई लाकर पढ़ाने में समर्थ हुए। वहाँ उन्हें विलसन हाई स्कूल में भर्ती करा दिया गया। इस प्रकार श्यामजी अंग्रेज़ी शिक्षा और आधुनिक जगत् के दायरे में आ गए।

श्यामजी पढ़ने-लिखने में बहुत तेज निकले और उनकी प्रगति देखकर उनके शिक्षक बहुत ही खुश हुए। जिस धनी व्यक्ति मथुरादास ने उनको सहायता दी थी उन्होंने ही बीच में पड़कर पुरोहित वंश के विश्वनाथ शास्त्री को किसी तरह पटा लिया और यह कहा कि आप इस बच्चे को अपनी संस्कृत पाठशाला में ले लें। श्यामजी विलसन स्कूल में भी बहुत अच्छे छात्र रहे, साथ ही वह संस्कृत पाठशाला में भी पढ़ते रहे। इनका अंग्रेजी ज्ञान अच्छा हो गया था, साथ ही वह अब संस्कृत भाषा में भी पारंगत हो गए। उन दिनों सारे यूरोप में संस्कृत भाषा के प्रति प्रेम, बल्कि कौतूहल जागृत हो रहा था। अब तक लोग यह समझते थे कि भारत एक प्राच्य देश है, उसकी सभ्यता और संस्कृति के विषय में लोगो को बहुत कम मालूम था, पर जब पश्चिम के विद्वान संस्कृतभाषा के संपर्क में आए, तो उन्होंने देखा कि संस्कृतभाषा न केवल साहित्य और अन्य विषयों में ऐश्वर्यशाली है, बल्कि शायद संस्कृतभाषा ही वह भाषा है जिससे सारी भाषाएँ निकली हैं। अब अधिक शोध करने के बाद संस्कृत भाषा का वह गौरव कुछ कम पड़ गया, पर उन दिनों यही सिद्धांत सामने लाया जा रहा था। कहना न होगा कि इस कारण लोगों का ध्यान संस्कृत की तरफ बहुत अधिक गया और पश्चिम के विद्वान इस सम्बन्ध में खोज करने लगे कि कौन-सा ऐसा भारतीय विद्वान है जो संस्कृत भाषा को अच्छी तरह से समझता हो, साथ ही अंग्रेजी के ज़रिये उसके सम्बन्ध में लोगों को ज्ञान दे सकता हो।

इस दृष्टि से देखा जाए तो श्यामजी का हाई स्कूल में भर्ती होना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा जितना महत्त्वपूर्ण कि संस्कृत पाठशाला में भर्ती होना रहा; क्योंकि संस्कृत भाषा के ज्ञान की बदौलत वह पश्चिम के विद्वानों के सम्पर्क में आ सके और उनको पाश्चात्य देशों में जाने का मौका मिला, जहाँ जाकर उनकी आँखें खुल गईं और वह समझ गए कि अत्यन्त प्राचीनकाल से सभ्य होने पर भी हमारी कद्र तभी हो सकती है जब कि हमारा देश स्वतन्त्र हो और हम सीना तानकर संसार के सामने खड़े हो सकें।

श्यामजी इतने अच्छे छात्र थे कि उनको जल्दी गोकुलदास काहन दास पारिख छात्रवृत्ति

मिल गई और अब उन्हें पहले का छोटा स्कूल छोड़कर एलफिनस्टोन हाई स्कूल में भर्ती होने का मौका मिला। इस स्कूल में पढ़ते समय भी उन्होंने अपनी धाक जमा ली और उनकी न केवल शिक्षकों, बल्कि बाहर के लोगों में भी ख्याति फैली। इस ख्याति की बदौलत उनका साँवलदास परिवार के साथ सम्पर्क हो गया। सेठ साँवलदास उन दिनों बम्बई के बड़े धनी सेठ समझे जाते थे। सेठजी के पुत्र रामदास श्यामजी के सहपाठी थे। इस नाते सेठजी के परिवार में श्यामजी का प्रवेश हो गया और वहाँ आने-जाने लगे। जब सेठजी के परिवारवालों को यह मालूम हुआ कि श्यामजी बहुत अच्छे छात्र और सचरित्र नौजवान हैं, तो उनका ध्यान इस तरफ गया कि क्यों न इसे अपना दामाद बना लिया जाए। इसलिए वे उन पर ज्यादा ध्यान देने लगे और 1875 ई. में जब उनकी उम्र 18 साल की थी, तब सेठजी की 16 साल की बेटी भानुमति के साथ उनकी शादी हो गई।

श्यामजी प्रारम्भ से ही प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने देखा कि संस्कृत पढ़नेवाले लोग अक्सर कुसंस्कारों में डूबे रहते हैं और वह यह समझ गए कि उन लोगों की दकियानूसी मनोवृत्ति के कारण ही देश आगे नहीं बढ़ पा रहा है। इस क्षेत्र में इस समय जो कुछ हो रहा था, उस पर भी उनका ध्यान गया। उन दिनों यह तर्क बड़े जोरों के साथ चल रहा था कि हिन्दू विधवाओं को शादी करने का अधिकार प्राप्त है या नहीं। यों तो मनुष्य के नाते उनका अधिकार था ही, पर प्रश्न यह था कि शास्त्रों की दृष्टि से हिन्दू विधवाओं को फिर से शादी करने का अधिकार है या नहीं। श्यामजी ने इस सम्बन्ध में अध्ययन किया तो उन्होंने अपनी प्रगतिशील मनोवृति के कारण उन लोगों का साथ दिया जो विधवा विवाह में विश्वास करते थे उन्होंने शास्त्रों से प्रमाण निकालकर संस्कृत के पण्डितों को समझाना शुरू किया। नतीजा यह हुआ कि तर्क-वितर्क और तू-तू मैं-मैं का एक बहुत बड़ा बवंडर उठ खड़ा हुआ। चारों तरफ उनकी ख्याति इस रूप में फैल गई कि यह व्यक्ति है तो कम उम्र का, पर संस्कृत में लिखे हुए शास्त्रों पर अच्छा अधिकार रखता है और साथ ही वह विधवा-विवाह का प्रचार करता है। इसके अलावा श्यामजी की एक ख्याति और फैली। वह यह कि वह धाराप्रवाह संस्कृत में भाषण दे सकते थे। इस प्रकार से श्यामजी ने अपनी प्रतिभा के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि उनके लिए संस्कृत मृत भाषा नहीं है, बल्कि संस्कृत का उचित अभ्यास करने पर वह लोगों के लिए सुगम मातृभाषा भी बन सकती है।

उनकी यह ख्याति केवल भारत में ही व्याप्त नहीं रही, बल्कि उनकी ख्याति ऑक्सफोर्ड तक पहुँची। उन्हीं दिनों ऑक्सफोर्ड के प्रसिद्ध संस्कृत मनीषी मोनियर विलियम्स भारत आए। वह तो इसीलिए आए थे कि संस्कृत के विद्वानों का परिचय प्राप्त करें। उन्होंने जब श्यामजी को धाराप्रवाह संस्कृत और अंग्रेजी में भाषण देते हुए सुना तो उसने यह निश्चय किया कि उन्हें ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अपने सहकारी के रूप में बुला लिया जाए।

उन्हीं दिनों और भी बहुत-सी बातें हुईं जिनमें सबसे उल्लेखनीय घटना यह है कि 1875 के 10 अप्रैल को स्वामी दयानन्द से श्यामजी की भेंट हुई। स्वामी दयानन्द उन सुधारकों में थे, जो वेदों की नई व्याख्या करके भारत को सुधार के मार्गपर ले जाना चाहते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा को दयानन्द से बहुत प्रेरणा मिली और उन्हें इस बात की खुशी हुई कि वह जिन विचारों का पोषण करते है दयानन्द भी लगभग उन्हीं विचारों का पोषण करते हैं। बाद को उन्होंने अवश्य यह महसूस किया कि केवल धार्मिक प्रवचन और धार्मिक संगठन से ही काम नहीं चलने का, बल्कि और बातों की भी जरूरत है। पर यह बाद की बात है जिसे हम यथासमय बताएँगे।

1876 में उनकी आँखें एकाएक खराब हो गईं। नतीजा यह हुआ कि उन्हें सामयिक रूप मे पढ़ना-लिखना बन्द कर देना पड़ा। पर खैरियत यह रही कि जल्दी ही उनकी आँखें ठीक हो गईं और वह फिर पढ़ाई करने लगे। जिन दिनों उनकी आँखें खराब थीं उन्हीं दिनों उन्होंने मैट्रीक्यूलेशन की परीक्षा दी। पर वह ठीक से परीक्षा द नहीं पाए, जिसका उन्हें बड़ा गम रहा। स्वामी दयानन्द यह चाहते थे कि श्यामजी उनके साथ हो जाएँ, आर्यसमाज का प्रचार करें। श्यामजी और अध्ययन करना चाहते थे। इसलिए वह इस सम्बन्ध में राजी नहीं हुए। सच्ची बात तो यह है कि वह आर्यसमाज से अवश्य प्रभावित हुए, पर वह आर्यसमाज का प्रचारक नहीं बनना चाहते थे। वह चाहते थे कि संस्कृत ज्ञान का प्रचार किया जाए, इस उद्देश्य से उन्होंने 1876 से लेकर 1878, दो सालों तक देश के विभिन्न स्थानों में जाकर धर्म और संस्कृत भाषा के साहित्य पर व्याख्यान दिया।

मोनियर विलियम्स ने उन्हें जो आशा दी थी वह व्यर्थ नहीं गई। 1879 के मार्च में श्यामजी कृष्ण वर्मा एस. एस. इण्डिया से इंग्लैड रवाना हो गए और वहाँ जाकर उन्होंने अपने को एक नये जगत् के बीच में पाया। वह अप्रैल में ऑक्सफोर्ड पहुँच गए। वहाँ उन्होंने पहले टैस्ट परीक्षा दी। इसके बाद मोनियर विलियम्स ने उनको बेलियोल कॉलेज में भर्ती करा दिया। श्यामजी ने देखा कि इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करते हुए वह बैरिस्टर भी बन सकते है। तदनुसार वह इनर टैम्पल इन्स ऑफ कोर्ट में भर्ती हो गए। इधर तो शिक्षा का कार्यक्रम चलता रहा, उधर मोनियर विलियम ने उनकी सहायता से ऑक्सफोर्ड में 'भारतीय संस्था और पुस्तकालय' नाम से एक संस्था की स्थापना करने की सोची। इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगों की राय ली गई और यह तय हुआ कि प्रसिद्ध व्यक्तियों को सम्मानित सदस्य बनाया जाए। इन्हीं दिनों उनकी विद्वता की ख्याति से कच्छ राज्य की ओर से उन्हें वार्षिक 100 पौण्ड की एक छात्रवृति मिली। इस प्रकार उन्हें इंगलैण्ड में रहने में किसी प्रकार की कोई असुविधा नहीं रही। वह अध्यापक विलियम्स से कुछ छात्रवृत्ति पाते थे। वह अब कच्छ राज्य की ओर से भी छात्रवृति पाने लगे। ऑक्सफोर्ड में रहते समय उन्होंने हर समय अपनी योग्यता बढ़ाई। उन्होंने ब्रिटिश संग्रहालय में मौजूद संस्कृत ग्रन्थों

को टटोलना शुरू कर दिया और वह उनका पाठ प्रस्तुत करने लगे। साथ ही कुछ अंग्रेजों को भी उनसे निजी तौर पर संस्कृत की शिक्षा देने लगे। इंग्लैण्ड में उन दिनों संस्कृत-चर्चा के लिए एक छोटा-सा गुट पैदा हो चुका था, यद्यपि यह याद रहे कि इंग्लैण्ड का गुट यूरोप के इस प्रकार के गुटों में सबसे छोटा था। वह इस गुट में बराबर संस्कृत भाषा, वेद तथा शास्त्रों पर व्याख्यान देते रहे। जिस अंग्रेज विद्वान को जो भी कठिनाई आती,वह आकर उनके सामने रख देता था और वह उन्हें संस्कृत शास्त्रों के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझा देते थे।

श्यामजी 1883 में ऑक्सफोर्ड के स्नातक हो गए। इस प्रकार अब उनके लिए यह सम्भव हुआ कि वह ऑक्सफोर्ड में ही अध्यापक लग जाएँ। यों तो उनके ज्ञान के कारण वह पहले ही अध्यापक हो सकते थे, पर कुछ प्रतिबन्ध ऐसे थे जिनके कारण बिना स्नातक हुए वह अध्यापक नहीं हो सकते थे। स्मरण रहे कि इसके पहले ही वह 1881 में भारत सचिव की ओर से बर्लिन मे होनेवाले प्राच्य कांग्रेस में प्रतिनिधि के रूप में भेजे गए थे। वहाँ उन्होंने विभिन्न देशों से आए हुए संस्कृत के विद्वानों के सामने अपनी धाक जमाई और लोग उनके विषय में और भी कौतूहल रखने लगे। जिस साल वह ऑक्सफोर्ड के स्नातक हुए, उसी साल वह हालैण्ड के लाइडेन में होनेवाले प्राच्य कांग्रेस में भारत के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। उन सारे अवसरों पर श्यामजीकृष्ण वर्मा को बहुत यश प्राप्त हुआ और यूरोप के बहुत-से संस्कृत के विद्वान उनकी तरफ पथ-प्रदर्शन के लिए देखने लगे।

यह एक बहुत मजे की बात है कि श्यामजी ऑक्सफोर्ड के प्रथम भारतीय स्नातक थे। साथ ही वह आधुनिक भारत के प्रथम क्रान्तिकारी हुए—यह हम पहले ही बता चुके है। जब वह इस तरह से यश से मण्डित हो गए तो 1883 के अन्त में भारत आए और वह भारत में केवल 31 महीने रहे। इसके बाद जब वह गए, तो वह अपनी पत्नी भानुमती को भी अपने साथ लेते गए। इसके बाद उन्होंने बैरिस्टरी की परीक्षा दी जिसमें वह पास हो गए। फिर वह यह समझ गए कि भारत में ही उन्हें कार्य करना चाहिए। वह भारत लौट आए और 1885 की 19 जनवरी को वह बम्बई हाईकोर्ट में बैरिस्टर के रूप में पंजीकृत हो गए। उनकी ख्याति चारों तरफ फैल गई थी और लोगों ने यह जान लिया कि वह इंगलैड में बहुत दिनों रह चुके है, इसलिए वह अंग्रेजों की मनोवृत्ति को अच्छी तरह समझते है। इसी कारण एक देसी रियासत के राजा ने उन्हें अपना दीवान बना लिया। वहाँ वह 1888 तक टिके, पर तबियत खराब हो जाने के कारण वह वहाँ से चलकर बम्बई पहुँचे। कुछ दिनों तक वह अजमेर में भी बैरिस्टरी का कार्य करते रहे।

यह एक विशेष बात है कि यद्यपि श्यामजीकृष्ण वर्मा बहुमुखी विद्वान थे पर वह व्यवसाय को भी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने इस बीच जो धन कमाया था, उसे उन्होंने

बहुत-से कारोबारों में लगा दिया और इस प्रकार उनकी धनराशि भी बढ़ती गई। कुछ दिनों के लिए वह यह सोचते रहे कि यों तो इस देश में कुछ करने का मौका नहीं है, यदि वह किसी बड़े देशी रियासत के दीवान बन जाते तो बहुत कुछ कर सकते है और जनता की सेवा हो सकती है। इसी धारणा के वश में उन्होंने 1892 के 21 दिसम्बर को उदयपुर रियासत की राज्य परिषद का सदस्य होना स्वीकार कर लिया और 1893 तक उन्होंने अपना काम भी सम्हाल लिया। पर उन्हीं दिनों उन्हें यह पता लगा कि उन्हें जूनागढ़ की दीवानी मिल सकती है, इसलिए उदयपुर के महाराणा ने उन्हें अपनी परिषद् की सदस्यता से मुक्ति दे दी। 1995 की 6 फरवरी को श्यामजी ने जूनागढ़ में आकर वहाँ की दीवानी का पद ग्रहण कर लिया। पर वहाँ जाते ही उन्होंने यह समझ लिया कि जूनागढ़ के नवाब प्रगतिशील विचारों के विरुद्ध हैं और वह केवल उन्हें अपने स्वार्थ की दृष्टि से रखना चाहते है। उन्हें कई तरह के कडुवे अनुभव हुए और वह समझ गए कि मैं यहाँ पर रहकर भले ही धन कमा लूँ, पर अपना असली कार्य नहीं कर सकता। इस प्रकार निराश होकर 1897 के बीच में वह जूनागढ़ की दीवानी से अलग हो गए और उदयपुर लौटने की बजाय उन्होंने यह सोचा कि एक बार और इंग्लैंड की यात्रा करनी चाहिए। इसलिए वह तीन महीने के लिए ही गए, पर घटनाचक्र ऐसा हुआ कि बाद को उन्हें भारत हमेशा के लिए छोड़ देना पड़ा।

असल में बात यह है कि वह बम्बई में रहते समय ही क्रांतिकारी विचारों का खुलकर प्रचार करने लगे थे। वह इंग्लैण्ड में रहते समय इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि हम प्राचीन काल में चाहे जितने सभ्य और समृद्ध रहे हों, पर इस समय पराधीनता के कारण संसार में हमारी कोई इज़्ज़त नहीं है। इनर टैम्पल में अध्ययन करते समय ही वह इंग्लैण्ड के उस समय महान दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के सम्पर्क में आ चुके थे और वह अपने ढंग से भारत के लिए कुछ नतीजों पर पहुँच चुके थे। इन्हीं दिनों भारत में वह घटनाएँ हुईं जिनसे यह लगा कि भारत 1857 के बाद भी क्रांति के मार्ग की ओर जा रहा है। बाद को स्वयं श्यामजी ने इस पर रोशनी डाली कि क्यों वह भारत छोड़ गए।

श्यामजीकृष्ण वर्मा इण्डियन सोसियोलोजिस्ट पत्र में, जो कुछ भी लिखते थे उसका बहुत प्रभाव पड़ता था और उसकी प्रतियाँ भारत में आती थीं तो उन्हें सब तरह के क्रांतिकारी विचारों के लोग बड़े ध्यान से पढ़ते थे। किसी प्रकार से यह पत्र भारत में आता था और, उस समय भारत में लोगों पर कितना जुल्म होता था— यह बाद को क्रांतिकारियों के कथन से मालूम होता है।

बाद को लिखते हुए डॉ. अविनाशचन्द्र भट्टाचार्य ने लिखा, ''हम लोग 1905 के करीब क्रांतिकारी बने, तो हम लोग इण्डियन सोसियोलोजिस्ट की प्रतियाँ पढ़ने लगे। हमें उसकी कई प्रतियाँ मिलीं, पर उस समय हमें इतनी अच्छी अंग्रेजी नहीं आती थी कि हम

उसके सामाजिक और राजनीतिक निबन्धों को अच्छी तरह समझ सकें। उल्लासकर दत्त ने हमें इसके कुछ हिस्से पढ़कर सुनाए और समझाया कि इन निबन्धों में स्पष्ट शब्दों में निरंकुश शासन के विरुद्ध लिखा था और यह लिखा था कि इससे छुटकारा पाने का एक ही उपाय है और वह है पैसिव रेजिस्टेन्स यानी निष्क्रिय प्रतिरोध। 1905 की दिसम्बरवाली प्रति में समानान्तर सरकार की स्थापना के पक्ष में भी तर्क दिया गया था।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि श्यामजीकृष्ण वर्मा किन विचारों से ओतप्रोत थे। एक तरफ वह संस्कृत के विद्वान थे, दूसरी तरफ वह समाज-सुधारक थे, तीसरी तरफ उनके कारण भारत की सभ्यता और संस्कृत भाषा के संबंध में ज्ञान फैल रहा था और सर्वोपरि वह क्रांतिकारी विचारों के थे। यद्यपि उनका सीधा संबंध न तो लोकमान्य तिलक के गुट से था और न उन दिनों नाटूबन्धु तथा चाफेकर बन्धुओं की तरफ से जो कार्य हुआ, उनसे उनका कोई संबंध था, फिर भी वह समझ गए कि वह यदि भारत में रहेंगे तो अपने उग्र विचारों के कारण अवश्य पकड़े जाएँगे। पकड़े जाने का गम नहीं था, पर गम यह था कि वह फिर कुछ कर नहीं सकेंगे। इसलिए उन्होंने यह उचित समझा कि इंग्लैण्ड जाकर रहा जाए और वहाँ अध्ययन के लिए उच्च कोटि के जो भारतीय छात्र आएँ उन्हें पकड़ा जाए और उन्हे समझाया जाए। वह इंगलैण्ड के प्रगतिशील मनीषियों से भी मिलते रहे थे— यह हम पहले ही बता चुके है। इसके साथ ही उन्होंने एक अध्ययन-केंद्र स्थापित किया, जिसमे वह भारतीय छात्रों को बुलाने लगे। असल में अध्ययन तो बहाना था। उसके जरिये से यह पता लगाना था कि कौन-से भारतीय छात्र क्रांतिकारी मतलब के हो सकते है।

बाद को श्यामजीकृष्ण वर्मा ने संस्मरण लिखते हुए यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि "1897 में नाटूबन्धु गिरफ्तार हो गए और तिलक पर मुकद्दमा चला। उससे मुझे यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश भारत में वैयक्तिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है और न वहाँ समाचार पत्रों को कोई स्वतन्त्रता प्राप्त है। ब्रिटिश-न्याय भी एक धोखा है। इस कारण मै अपना देश छोड़कर इंग्लैण्ड में जा बसा। पर हाल ही में मैंने यह देखा कि इंग्लैण्ड में भी मेरे लिए शांति और खतरे से बचकर रहना संभव नहीं है, इसीलिए मै इंग्लैण्ड छोड़कर पेरिस में आकर रहने लगा।"

इस संस्मरण से पता लगता है कि श्यामजीकृष्ण वर्मा भारत छोड़ गए— यह अच्छा ही रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि वह भारत में रहते, तो वह गिरफ्तार कर लिए जाते और उनका अन्त किसी जेल में या अन्दमान में होता या उन्हें इतनी लम्बी सजा होती कि लोग उन्हें भूल जाते। इस दृष्टि से देखा जाए तो उनका इंग्लैण्ड चला जाना बहुत सुन्दर रहा। वहाँ भी वह बैठे नहीं रहे, बल्कि बराबर कार्य करते रहे।

वह लन्दन में पहुँचकर इनर टैम्पल रेसिडेंसियल चेम्बर में रहने लगे। वहाँ उन्होंने

अपने ढंग से क्रांतिकारी प्रचार-कार्य शुरू किया। उस समय सबसे बड़ा प्रचार यही था कि भारत स्वतंत्र होने का हकदार है और पादरियों ने जिस प्रकार से भारत को एक असभ्य और पिछड़ा हुआ देश करके चित्रित किया है, भारत उस प्रकार का देश नहीं है। भारत की सभ्यता बहुत पुरानी है और यद्यपि रूढ़ियों के कारण भारत इस समय बहुत पिछड़ गया है, फिर भी भारत को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। इस प्रकार का प्रचार-कार्य नरम दल के नेता भी इंग्लैण्ड में जाकर करते थे। पर श्यामजी और उन लोगों में फर्क यह था कि वह साथ-ही-साथ लन्दन में गए हुए भारतीयों को संगठित कर उनमें क्रांतिकारी भावना भरते जाते थे।

उनके साथ मिलकर जिन लोगों ने लंदन में काम किया, उनमें एक प्रसिद्ध व्यक्ति सरदारसिंह राणा हुए है। वह भी गुजरात के रहने वाले थे। डॉ. भट्टाचार्य के अनुसार यूरोप में रहनेवाले भारत के दूसरे क्रांतिकारी थे। डॉ. अविनाशचन्द्र भट्टाचार्य बाद को उनसे उस समय मिले थे जबकि वह सौराष्ट्र के लिमड़ी राज्य में अपने बाप-दादा के घर में रह रहे थे। उस समय उनकी उम्र ८९ वर्ष की थी।

सरदारसिंह राणा श्यामजी के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। इसी प्रकार एक अन्य भारतीय वीरचन्द्र गाँधी सिकागो की प्रसिद्ध धर्म संसद से लौटते समय उनसे मिले थे। यहाँ यह बता देना उचित है कि श्यामजीकृष्ण वर्मा केवल राजनीतिक कार्य कर रहे थे, यह बात नहीं। वह उस समय यूरोप में प्रचलित बौद्धिक क्रांतिकारी धारा के साथ अपने को संयुक्त रखने की चेष्टा कर रहे थे। उन दिनों हर्बर्ट स्पेन्सर की बड़ी धूम थी, उनसे तो श्यामजी मिलते ही थे, इनके अलावा दूसरे उदार मतवाले दार्शनिकों से भी श्यामजीकृष्ण वर्मा मिलते रहे थे। जब वीरचंद्र गाँधी श्यामजी से मिले, तो उस समय जे.एम. पारिख आदि कई भारतीय मित्र भी उनके साथ मिले थे। ऐसा लगता है कि ये लोग उन दिनों की कांग्रेस की नीति के विरुद्ध थे। उन दिनों की कांग्रेस में रखा ही क्या था! स्वतंत्रता-संग्राम के नाम पर जो कुछ भी हो रहा था, वह कांग्रेस के बाहर के लोगों के द्वारा ही चल रहा था। तिलक का एक पाँव कांग्रेस के अन्दर था, पर असली काम तो वह केसरी के जरिये क्रांति के संदेश का प्रचार कर रहे थे। इस कारण इंग्लैंड में मौजूद उग्र विचार के भारतीय इंग्लैंड के समाजवादी, आयरलैण्ड के लोकतांत्रिक तथा दूसरे ऐसे लोगों से मिलते थे, जो अपने देशों में स्वतंत्रता तथा समाजवादी आन्दोलन चला रहे थे।

ये क्रांतिकारी अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के साथ अपने को पूरी तरह सम्बद्ध रखते थे। जब 1899 के लगभग दक्षिण अफ्रीका के ट्रांसवैल लोकतंत्र के जोहन्सबर्ग के पास एक सोने की खान का पता लगा, तब ब्रिटेन के व्यापारियों में इस बात की भगदड़ मच गई कि किसी तरह वहाँ पहुँचा जाये और वहाँ सोने की खान पर कब्जा किया जाए। ट्रांसवैल एक स्वतंत्र राष्ट्र था, पर व्यापारियों के भड़काने पर इंग्लैण्ड की सरकार उस राष्ट्र पर इतना

दबाव डालने लगी कि अन्त तक युद्ध की परिस्थिति आ गई और वहाँ के राष्ट्रपति-सेनापति कुगर ने अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई करने की घोषणा की।

बूअर-युद्ध भयंकर रूप से चला। पहले अंग्रेजों के मुकाबले में बूअरों की जीत होती रही, जिससे सारी दुनिया को आश्चर्य हुआ। आयरलैण्ड के लोग भी स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। उनमें से कई लोग बूअरों के तरफ हो गए और वे अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने लगे। दूसरे देश भी इंग्लैण्ड के विरुद्ध हो गए। यह न समझा जाए कि बूअर कोई दूध के धुले हुए थे, बल्कि ये अंग्रेजों से जलते थे। इस संबंध में सबसे मजेदार बात यह है कि इस समय भारतीयों में से कुछ लोगों ने दूसरा दृष्टिकोण अपनाया और इसके फलस्वरूप श्यामजीकृष्ण वर्मा और मोहनदास कर्मचन्द गाँधी यानी महात्मा गाँधी में भिड़न्त हो गई। हम इस प्रकरण को डॉ. भट्टाचार्य के शब्दों में पेश करते हैं:

''इन्हीं दिनों नाटाल में रहकर गाँधीजी बैरिस्टरी कर रहे थे और उन्हें यथेष्ट सम्मान भी प्राप्त हुआ था। उन्होंने एक स्वयंसेवक सेना का संगठन किया और अंग्रेजों की इज्जत बचाने के लिए यात्रा करने के बाद युद्ध में भाग लिया। इससे बूअर, सेनापति जनरल बोथा और दूसरे बूअर सेनापति बहुत ही व्यथित हुए। जब श्यामजी को यह खबर मिली, तो वह बौखला गए। उनका यह कहना था कि जिस जाति ने अन्यायपूर्ण भारतवर्ष पर अधिकार कर रखा है और अविवेकी शासन और निर्लज्ज शोषण के द्वारा भारत को गरीब बना दिया है और ध्वंस के मार्ग पर ले जाकर खड़ा कर दिया है, जब वही जाति एक छोटी-सी जाति को पैरों तले रौंदने के लिए कटिबद्ध हुई है, उस समय ब्रिटेन की सहायता से गाँधीजी ने जो काम शुरू किया है वह बिल्कुल नाजायज, नासमझी से भरा और न्याय-विरुद्ध है। इसे श्यामजी ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया। इस प्रकार श्यामजी उग्र-से-उग्र राष्ट्रवादी विचारों की ओर जाने लगे।

''अमरीका के आयरिश प्रजातन्त्रीय मुखपत्र 'गेलिक' अमरीकन पत्र ने यह लिखा, नाटाल के भारतीयों का आचरण इतना निन्दनीय है कि उसका भाषा में वर्णन सम्भव नहीं है। उन्होंने अपने ऊपर अत्याचार करनेवाली ब्रिटिश सरकार की जिस तरह से सहायता की है। उससे भारतीयों की बेइज्जती हुई है।''

इस प्रकार श्यामजी का महत्त्व केवल यूरोप में जाकर प्रकट करनेवाले प्रमुख क्रांतिकारी के रूप में नहीं है, बल्कि उनके संबंध में यह बात भी कही जानी चाहिए कि वह अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सही विचार रखते थे और इस संबंध में उनकी गाँधीजी के साथ टक्कर हुई थी। अजीब बात यह है कि गाँधीजी की जीवनी लिखते समय श्यामजीकृष्ण वर्मा के इस महत्त्वपूर्ण विरोध का किसी भी पुस्तक में उल्लेख तक नहीं किया जाता, पर इससे स्पष्ट है कि किस प्रकार शुरू से ही गाँधीजी और क्रांतिकारियों में विरोध का संबंध चल रहा

था। शायद यही कारण है कि बाद को गाँधीजी मुँह से तो क्रांतिकारियों के त्याग और तपस्या की बराबर प्रशंसा करते रहे, पर जहाँ भी उनसे बन पड़ता था, वह उन्हें हर तरीके से व्यावहारिक हानि पहुँचाने से नहीं चूकते थे। किराये के टट्टू लेखक जवाहरलाल को अंतर्राष्ट्रीय मामलों में दिलचस्पी लेनेवाले प्रथम राजनीतिज्ञ चित्रित करते है, पर श्यामजी से लेकर सैकड़ों क्रांतिकारी राष्ट्रीय संग्राम को अंतर्राष्ट्रीय संग्राम के साथ जोड़ना चाहते थे।

उन दिनों जैसा कि पहले बताया जा चुका है, हर्बर्ट स्पेन्सर की बड़ी धूम थी। 1907 के 14 दिसम्बर को गोल्डर्स ग्रीन समाधि क्षेत्र में जब इस महान् दार्शनिक को दफनाया गया, तो श्यामजीकृष्ण वर्मा उस अवसर पर उपस्थित थे और उन्होंने उस अवसर पर एक भाषण देते हुए यह घोषणा की कि मैं स्पेन्सर लैक्चरशिप के लिए 1 हज़ार पौण्ड देना चाहता हूँ। स्पेन्सर हर विषय में प्रयोग और प्रत्यक्ष पर जोर देते थे और वह अटकलपच्चू वाले दर्शनशास्त्र के विरुद्ध थे। श्यामजी ने अपने ढंग से यह कोशिश की कि स्पेन्सर के विचारों का भगवद्गीता और हिन्दू शास्त्रों के साथ समन्वय किया जाए और उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए।

जब 1904 की कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए लन्दन के सर विलियम वेडरबर्न भारत आने लगे तो श्यामजी ने उनको यह कार्य सौंपा कि वह कांग्रेस में उनकी एक सूचना पढ़कर सुना दें। इस सूचना के अनुसर 6 फैलोशिपों की घोषणा की गई थी। ये फैलोशिप 1905, 1906 और 1907 में 2,000 रुपये प्रत्येक के हिसाब से दो-दो फैलाशिप दिए जाने वाले थे, जिनका नामकरण हर्बर्ट स्पेन्सर पर हुआ था। इन 6 फैलोशिपों के अलावा वह दयानन्द सरस्वती के नाम पर भी एक फैलोशिप की घोषणा करना चाहते थे। विचार यह था कि इन फैलोशिपों की बदौलत जो अच्छे छात्र भारत में आएँगे वे देश की सेवा करेंगे। इन फैलोशिपों की एक शर्त यह थी कि जो लोग इसको ग्रहण करेंगे, वे इंग्लैण्ड में आएँगे और उन्हें यह प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वे बाद को कोई सरकारी नौकरी नहीं स्वीकार करेंगे। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो सूचना प्रस्तुत की थी, उसमें यह लिखा था कि हर भारतीय का यह लक्ष्य होना चाहिए कि स्पेन्सर की स्वतन्त्र चिन्तन की वृत्ति की रक्षा की जाए। स्मरण रहे कि सर विलियम वेडरबर्न उन लोगों में थे, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना की थी। वह कांग्रेस के अध्यक्ष भी रह चुके थे, पर उन्होंने श्यामजीकृष्ण वर्मा की यह सूचना कांग्रेस में पढ़कर नहीं सुनाई। खैरियत यह है कि जब वह लौटकर, लन्दन गए, तो उन्होंने श्यामजी को एक पत्र के द्वारा बताया कि मैंने आपकी सूचना कांग्रेस के अधिवेशन में पढ़कर नहीं सुनाई। यही नहीं, वेडरबर्न ने यह भी लिखा कि इस प्रकार की सूचना को कांग्रेस के अन्दर पढ़ना अशोभन होता। श्यामजी पहले से यह समझते थे कि वेडरबर्न शायद यह काम न करें, इसलिए उन्होंने सूचना की प्रतियाँ भारतीय समाचार

पत्रों को तथा शिक्षा संस्थाओं में भेज दी थीं।

इन्हीं दिनों बंग-भंग का आन्दोलन शुरू हुआ और देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। यह आन्दोलन तत्कालीन कांग्रेस संस्था के बनावटी और संकुचित ढाँचे के अन्दर समाने वाला नहीं था, वह क्रांतिकारी जन आन्दोलन के रूप में प्रकट होने लगा। इस आन्दोलन को बल पहुँचाने के लिए 1905 की जनवरी से श्यामजी ने अपने अंग्रेज़ी मासिक पत्र 'इंडियन सोसियोलोजिस्ट' का प्रकाशन शुरू कर दिया। इस पत्रिका का क्या मतवाद था, इस संबंध में हम पहले ही थोड़ा-सा बता चुके हैं। पर यहाँ यह और बता दिया जाए कि पत्रिका पर यह लिखा रहता था कि यह स्वतंत्र, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक सुधार का मुखपत्र है। इस पत्रिका की काफी धूम मच गई और लोगों में इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। अगले ही महीने श्यामजीकृष्ण वर्मा ने लन्दन के हाई गेट इलाके में खरीदे हुए एक भवन में 'इण्डियन होम रूल सोसायटी' नाम से एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के उद्देश्य इस प्रकार थे :

(1) भारत में होमरूल की स्थापना।

(2) इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इंग्लैड में सब तरह के व्यावहारिक कार्य करना।

(3) भारत की जनता में स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय एकता के संबंध में ज्ञान का प्रचार करना।

इस संस्था के अध्यक्ष स्वयं श्यामजी हुए और इसके उपाध्यक्षों में सरदारसिंह राणा, जे.एम. पारिख, अब्दुल्ला, सुहरावर्दी और गाडरेज हुए। जे.सी. मुखर्जी इसके मंत्री नियुक्त हुए। स्थापकों की ओर से यह कहा गया कि हमारा उद्देश्य भारतीयों के लिए भारतीयों की सरकार की स्थापना है। कहना न होगा कि यह उद्देश्य 1905 के समय को देखते हुए बहुत क्रांतिकारी उद्देश्य था, क्योंकि उन दिनों भारत के सभी नेता जो बाद को चलकर प्रसिद्ध हुए, सहयोग की कन्दराओं में भटक रहे थे।

यह भी घोषणा की गई कि जल्दी ही एक ऐसे भवन की स्थापना होगी जिसमें भारत से फैलोशिप लेकर आए हुए लोगों मे तथा छात्रों के खेलकूद, खाने-पीने, मनोरंजन आदि के लिए एक बोर्डिंग हाउस की स्थापना होगी। श्यामजी केवल घोषणा करके चुप रहनेवाले नहीं थे, पहली जुलाई को ब्रिटिश समाजवादी दल के नेता मि. हैण्डमैन के करकमलों से इण्डिया हाउस की स्थापना की गई। इस अवसर पर बहुत-से आयरिश स्वतंत्रता-योद्धा तथा कुछ अंग्रेज भी आए थे। भारतीयों में दादाभाई नौरोजी, लाला लाजपतराय, मादाम कामा, लाला हंसराज, दोस्त मोहम्मद और अन्य भारतीय छात्र थे। मैं इस तरफ फिर दृष्टि आकर्षित करना चाहता हूँ कि श्यामजी ब्रिटिश समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को भारतीय क्रांतिकारी आन्दोलन का स्वाभाविक मित्र मानते थे।

इन दिनों भारत में इस बात पर झगड़ा चल रहा था कि कांग्रेस के 1905 वाले

अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करे। दो व्यक्तियों में विशेषकर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। एक तरफ नरमदल के गोखले थे जिन्हें गाँधीजी ने बाद को अपना गुरु माना और दूसरे प्रतिद्वन्द्वी थे लोकमान्य तिलक। भला इतने बड़े विषय पर श्यामजीकृष्ण वर्मा चुप कैसे रह सकते थे। उन्होंने अपने पत्र में गोखले और तिलक की तुलना करते हुए एक लेख लिखा, जिसका ब्यौरा हम अविनाश बाबू की पुस्तक से उद्धृत करते हैं :

(1) जब 1897 में ताऊन के बहाने से भारतीयों पर अत्याचार हो रहे थे, तो गोखले ने भी लिखा और तिलक ने भी लिखा। पर गोखले माफी माँगकर अलग हो गए, लेकिन तिलक माफी न माँगकर 18 महीने की सज़ा काटते रहे।

(2) गोखले कुछ ही दिन बाद सरकारी कृपा से बम्बई विधायक परिषद के सदस्य नियुक्त हुए। उन्हें हर अधिवेशन में 1,000 रुपए मिलते थे, पर यद्यपि तिलक पहले से इस परिषद के सदस्य थे, फिर भी उन पर मुकद्दमा चलने के कारण वह परिषद की सदस्यता के अयोग्य घोषित कर दिए गए।

(3) गोखले बाद को वायसराय की परिषद के सदस्य नियुक्त हुए और हर अधिवेशन में 5,000 रुपये पाने के अधिकारी हुए। पर तिलक को ब्रिटिश सरकार ने मुकद्दमा में फँसाकर आर्थिक रूप से भी बहुत भारी हानि पहुँचाई।

(4) ब्रिटिश सरकार ने गोखले को सी.आई.ए. की उपाधि दी, पर तिलक को फिर 18 महीने की सज़ा हुई। बाद को यह सज़ा घटाकर 6 महीने की सज़ा और 1,000 रुपये जुर्माना बन गया।

(5) गोखले को तो मज़े में भत्ता मिलता रहा, पर तिलक ने प्रमाणित कर दिया कि उन पर जो मुकदमा चलाकर सज़ा दी गई थी, वह सही नहीं थी, फिर भी उन्हें किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति नहीं की गई।

कांग्रेस में जैसा जो कुछ हुआ, उसके ब्यौरे में यहाँ जाने के आवश्यकता नहीं।

अन्त में श्यामजी ने लिखा था—देखिए कि किस तरह एक पेशेवर राजनीतिज्ञ तरक्की करता है और सिर न झुकानेवाला देशभक्त मुसीबतों में फँसता है।

जब बंगाल में स्वाधीनता आंदोलन के संबंध में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी गिरफ्तार हुए, तो श्यामजीकृष्ण वर्मा ने उस गिरफ्तारी के विरुद्ध 1906 की 4 मई को इण्डिया हाउस में एक सभा की और उसका खुलकर विरोध किया। इस सभा में विट्ठलभाई पटेल, भाई परमानन्द तथा कई दूसरे भारतीय मौजूद थे।

श्यामजीकृष्ण वर्मा ने इस विषय पर लोगों में चर्चा चलाने के लिए कि भारत स्वतन्त्र हो, तो वहाँ कैसी शासन-पद्धति हो, एक निबन्ध प्रतियोगिता कराई। यह 1907 की बात है और इसके लिए उन्होंने 1,000 रुपये के पुरस्कार की घोषणा की। सिर्फ 8-10 निबन्ध

आए। उनमें एक निबन्ध मुस्लिम नेता सर आगा खाँ का था जिसमें उन्होंने यह कहा था कि भारत में साम्प्रदायिक मतभेद बहुत प्रबल है, इसलिए भारत स्वतन्त्रता पाने के उपयुक्त नहीं है। यह निबन्ध शिक्षित मुसलमानों के उस मत का प्रतिनिधित्व करता था, जो उस विषवृक्ष के फल के रूप में फैला था, जिस वृक्ष को अंग्रेज अध्यापक बेक ने अलीगढ़ की ज़मीन पर बोया था। इसी का अन्तिम फल पाकिस्तान रहा। दूसरा निबन्ध सत्यमूर्ति ने लिखा था। तीसरा निबन्ध 'ढाका-प्रकाश' पत्र के सम्पादक मुकुन्दीलाल चक्रवर्ती का था और चौथा निबन्ध कलकत्ता के अध्यापक विजय मजूमदार का था। निर्णायकों ने आगा खाँ के निबन्ध पर कोई राय नहीं दी। बाकी तीन निबन्धों की प्रशंसा की गई क्योंकि उन सबमें स्वतंत्रता ही भारत का लक्ष्य करार दिया गया था। निर्णायकों में थे स्वयं श्यामजीकृष्ण वर्मा, सरदारसिंह राणा, सरोजिनी नायडू के भाई वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, गाडरेज और 8 अन्य व्यक्ति। कम निबन्ध आए थे, इसलिए पुरस्कार देना स्थगित किया गया।

श्यामजी को पता लगा कि 1907 की मई में 1857 की क्रांति का मज़ाक़ उड़ाने के लिए भारत में उसकी हीरक जयन्ती मनाने का निश्चय हुआ है, जिसमें 'दिल्ली के कश्मीरी गेट पर आक्रमण' नामक एक नाटक दिखाया जानेवाला था और उसमें देशभक्त नाना साहब, बहादुरशाह आदि को व्यंग्यात्मक ढंग से पेश किया जानेवाला था। जब यह खबर लन्दन में पहुँची, तो श्यामजी बहुत नाराज़ हुए और सावरकर की सहायता से इण्डिया हाउस में 1857 का उत्सव मनाने का निश्चय किया गया। सावरकर इसे पहले से ही 1857 के सम्बन्ध में शोध कर रहे थे और उन्होंने एक ग्रन्थ भी प्रस्तुत किया था जिसका अपना ही रोमांचकारी इतिहास है, जो 'भारत के क्रांतिकारी' प्रथम भाग में आ गया है।

इन्हीं दिनों लन्दन में यह खबर आई कि लाला लाजपतराय तथा सरदार भगतसिंह के चाचा अजीतसिंह को देशनिकाला दिया गया है। इससे श्यामजी बहुत उत्तेजित हुए क्योंकि लाला लाजपतराय से उनकी बड़ी गहरी मित्रता थी और उन पर उन्हें बहुत विश्वास था। लालाजी बाद को नरम दल के हो गए थे, पर उन दिनों वह क्रांतिकारी ढंग से सोचते थे। लालाजी आदि की गिरफ्तारी के विरोध में उसी समय लन्दन में एक सभा हुई जिसमें मादाम भीकाजी कामा, सरदारसिंह राणा, गाडरेज आदि मौजूद थे। मादाम कामा ने इस अवसर के लिए एक छोटा-सा वक्तव्य प्रस्तुत किया था, जो वहाँ पढ़ा गया। यह वक्तव्य बाद को श्यामजी के पत्र में प्रकाशित हुआ।

इस तरह कई कारण ऐसे हुए, जिनसे ब्रिटिश पत्र-जगत् को श्यामजी के संबंध में सन्देह उत्पन्न हुआ और पत्रों में उनके विरुद्ध बहुत-से मन्तव्य प्रकाशित होने लगे। तभी श्यामजी ने यह नतीजा निकाला कि अब लन्दन में रहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ वातावरण काफी गरम हो चुका है। इसलिए वह अन्त तक लन्दन छोड़ गए।

वह लन्दन से पेरिस में गए और वहाँ उनके जाते ही एक क्रांतिकारी चक्र बन गया। वहाँ से भारत के साथ सूचनाओं का आदान-प्रदान होने लगा और क्रांतिकारी संदेश भेजे जाने लगे। श्यामजी बहुत ध्यान के साथ कांग्रेस में होनेवाली घटनाओं को देखते रहे। उन्हें आशा थी कि सूरत कांग्रेस के टूट जाने से कुछ लाभ होगा, पर कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई पड़ा। असली बात तो यह है कि कांग्रेस के नेता क्रांतिकारी तरीकों को अपनाने के लिए तैयार नहीं थे।

कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हो रही थीं, जिनका पत्रों में कुछ पता नहीं आ रहा था। बंग-भंग के कारण बंगाल में पहले सार्वजनिक आन्दोलन अहिंसात्मक ढंग से चला। उसके बाद जब उनका दमन किया गया तो उसने गुप्त दल का ढंग अपनाया। इन्हीं दिनों बिहार के मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी ने एक कुख्यात न्यायाधीश किंग्स फोर्ड को मारने की चेष्टा की, पर किंग्सफोर्ड की बजाय दूसरे गोरे मारे गए। कुछ भी हो, श्यामजी इससे बहुत उत्तेजित हुए और उन्होंने अपने पत्र में आतंकवाद के संबंध में कई वक्तव्य प्रकाशित किए। लीराय स्कॉट नामक एक प्रसिद्ध अमरीकी पत्रकार ने आतंकवाद की मनोवृत्ति के सम्बन्ध में एक निबन्ध प्रकाशित किया था। उसी को श्यामजी ने अपने पत्र में प्रकाशित किया। उसमें एक रूसी आतंकवादी का हवाला था। वह युवक रसायन शास्त्र विशारद था। उस युवक ने अपने बयान में यह कहा था—"मैं, क्यों आतंकवादी हूँ और मैं क्यों आतंकवाद को उचित समझता हूँ, यह आपके लिए समझ पाना कठिन है। आपके देश में आतंकवाद के लिए कोई उचित कारण नहीं है। पर हमारे देश ज़ारशाही रूस में यही एकमात्र सही तरीका है। कितने सालों से, कितने पुरखों से हम अपनी सरकार से कुछ स्वतन्त्रता की माँग कर रहे है, पर सरकार ने हमें कुछ भी स्वतंत्रता नहीं दी। ज़ार ने शासन-सुधार-सम्बन्धी जो सुझाव प्रस्तुत किया है, वह महज़ एक कागज़ का टुकड़ा है। उसमें दूमा या परिषद की व्यवस्था की गई है, पर ज़ार इसका भी पालन नहीं करते। हम राजनीतिक रूप से बहुत कष्ट भोग रहे हैं। आप जानते हैं कि खुलकर क्रांतिकारी कार्य करना असंभव है। कैसे गुप्तचर पहरा देते हैं, किस तरह से हमारे नेताओं को फाँसी पर चढ़ाया जाता है, कैसे उन्हें देश निकाला दिया जाता है, कैसे घर-घर अस्त्र-शस्त्र के लिए तलाशी होती है। इसलिए हम आतंकवाद की ओर बढ़े हैं। सरकार ने ही इसके लिए परिस्थिति का सृजन किया है और हमें आतंकवादी बनने के लिए मजबूर किया है। हम लोग लड़ाई करना नहीं चाहते और हत्या करने से हमारा दिल काँपता है, पर आप यह मानेंगे कि स्वतन्त्रता के लिए खुले युद्ध में हत्या उचित मानी गई है। अब हमारी हालत को विचार कीजिए कि हम खुला युद्ध नहीं कर सकते।"

डॉ. अविनाश भट्टाचार्य ने लीराय स्कॉट का पूरा लेख उद्धृत किया है, पर हमने

उसका कुछ अंश ही यहाँ पर दिया है। इससे स्पष्ट है कि श्यामजी अपने पत्र में कैसी-कैसी सामग्री छापते थे। इसी प्रकार से श्यामजी ने अन्य लेखों के द्वारा क्रांतिकारी तरीकों को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने एक लेख में यह लिखा—"क्या यह बात सच नहीं है कि इटली के महान् चिन्तक मैत्सिनी ने बण्डेरी बन्धुओं को बमों के साथ वीरता और साहस के कार्य के लिए भेजा?"

मुजफ्फरपुर हत्याकाण्ड के बाद कई महीनों तक श्यामजी इस प्रकार के निबन्ध लिखकर क्रांतिकारी आंदोलन को नैतिक बल पहुँचाते रहे। 1908 के सितम्बर अंक में इण्डियन सोसियोलोजिस्ट पत्र में एक लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था—'डाइनामाइट का नीतिशास्त्र और भारत में ब्रिटिश तानाशाही।' इस निबन्ध में श्यामजी ने कहा था—"यदि ब्रिटिश शासक और उनके बूढ़े सैनिक भारतीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय सम्मान को जबरदस्ती हरण करके करोड़ों लोगों को 150 सालों से मृत्यु के द्वार पर पहुँचाते रहे हैं, तो क्या देश के लोग नीतिशास्त्र के अनुसार आत्मरक्षा के लिए शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए कोई रास्ता अख्तियार न करें? क्या यह उनका एकमात्र कर्तव्य नहीं है?"

इस प्रकार से उन्होंने आयरलैण्ड तथा रूस के क्रांतिकारियों का उदाहरण दे-देकर बहुत-से वक्तव्य तथा लेख प्रकाशित कराए। 1909 में श्यामजी ने खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाईलाल दत्त और सत्येन्द्रनाथ बसु— इन चार क्रांतिकारी शहीदों के स्मारकों के रूप में चार छात्रवृत्तियों की घोषणा की। कहना न होगा कि इससे ब्रिटिश पत्र-जगत में बहुत शोर मचा और सभी पत्रों ने यह लिखा कि श्यामजी को इस प्रकार के कार्यों के लिए सजा मिलनी चाहिए। पर श्यामजी ब्रिटिश सरकार की पहुँच के बाहर थे, इसलिए उनकी सारी उछल-कूद और गालियाँ व्यर्थ गईं।

1909 की पहली जुलाई को पँजाब से आए हुए छात्र मदनलाल धींगरा ने भारत सचिव के ए.डी.सी. कर्जन वाइली तथा भारतीय खैरख्वाह डॉ. कवास लालकाका पर गोली चलाई। अगले ही दिन 'डेली मेल' पत्र के प्रतिनिधि श्यामजी के साथ मिले। श्यामजी को इस हत्याकाण्ड के संबंध में कुछ पता नहीं था और वह इस फँसानेवाली भेंट के लिए कतई तैयार भी नहीं थे। डेली मेल ने यह प्रकाशित किया कि श्यामजी ने इस हत्याकाण्ड का विरोध किया, पर बाद को पता चला कि डेली मेल ने उनका सही बयान प्रकाशित नहीं किया। वह गोलमोल बातें करके अलग हो गए थे। यदि वह मन की असली बात भेंट में कहते, तो पेरिस से निकाले जाने की नौबत आ सकती थी। कुछ भी हो, गलत ढंग से प्रकाशित इस बयान से लन्दन में रहनेवाले कुछ क्रांतिकारियों में श्यामजी के प्रति कुछ अश्रद्धा उत्पन्न हुई। पर जल्दी ही श्यामजी ने डेली मेल की इस चाल को अत्यन्त खूबी के साथ परास्त कर दिया। उन्होंने बाद में यह खुलकर कहा कि इस हत्याकाण्ड के साथ

यद्यपि मेरा कोई संबंध नहीं है, फिर भी मदनलाल धींगरा ने जो बयान दिया है वह देशभक्तिमूलक है और इससे व्यक्त होता है कि वह एक परम साहसी भारतीय हैं। उन्होंने कहा, "मैं उनके कार्य का समर्थन करता हूँ, और उन्हें मैं भारत के लिए त्याग करनेवाले महान शहीदों में मानता हूँ। धींगरा ने अपने को विपत्ति में डालकर जिस प्रकार से कार्य किया है उसके लिए मैं चार छात्रवृत्ति घोषित करता हूँ। ये चार छात्रवृत्तियाँ भी उसी प्रकार होंगी जैसे खुदीराम, प्रफुल्ल चाकी, कन्हाईलाल और सत्येन्द्र की स्मृति में घोषित हुई है।"

इन्हीं दिनों श्यामजी ने लाला हरदयाल को पेरिस में रखकर 'वन्देमातरम्' नामक एक पत्र का प्रकाशन भी शुरू किया और उन्होंने दो और छात्रवृत्तियाँ भी घोषित कीं। एक गणेश सावरकर के नाम और दूसरी अलीपुर-षड्यंत्र के हेमचंद दास के नाम जिन्होंने पेरिस में रहकर बम बनाना सीखा था।

श्यामजी पेरिस के समाजवादी नेताओं के साथ मिलकर सावरकर के संबंध में भी आंदोलन करते रहे। इस बीच सावरकर गिरफ्तार हुए थे और वह मार्सल बन्दगाह में ब्रिटिश जहाज से भाग गए थे। वह फ्रांस की सरजमीन पर ही थे कि अंग्रेज अफसर उन्हें पकड़ने के लिए आ गए। फ्रांसीसी सिपाही अंग्रेज अफसरों के रोब में आ गया और अपने अफसरों से बिना पूछे ही उसने कैदी सावरकर को पकड़कर ब्रिटिश पुलिस के हाथ सौंप दिया। इसी पर श्यामजी ने आंदोलन चलाया था कि अंतर्राष्ट्रीय कानून भंग हुआ है। श्यामजी और उनके समाजवादी साथियों के कारण ही सावरकर का मामला हेग की अंतर्राष्ट्रीय अदालत में गया। वहाँ ब्रिटिश प्रभाव के कारण इस मामले में न्याय नहीं हो सका। कथित अंतर्राष्ट्रीय अदालत में इस प्रकार न्याय का गला घोंटा गया।

इसके बाद श्यामजी कुछ हद तक अलग-थलग हो गए और महज़ पत्रिका प्रकाशित करते रहे। यदि क्रांति-प्रयास को असफल होते देख श्यामजी कुछ अलग-से हो गए तो कोई आश्चर्य नहीं।

श्यामजी के बारे में कुछ लोगों में असन्तोष था, पर यह असन्तोष कहाँ तक सही था, इस संबंध में संदेह है। असल में श्यामजी यूरोप में मौजूदा क्रांतिकारियों के साथ मेल-जोल से काम नहीं कर पाए और ये क्रांतिकारी इसलिए नाराज थे कि श्यामजी जितना कर सकते हैं उतना नहीं कर रहे हैं।

1914 के अप्रैल में इंग्लैण्ड के राजा पंचम जार्ज पेरिस में गए। इस पर फ्रांस में बड़ी खुशियाँ मनाई गईं। यहाँ तक कि पत्रों ने सचित्र विशेषांक निकाले। स्वाभाविक रूप से फ्रांस में प्रवासी क्रांतिकारियों को यह बात कुछ खतरनाक मालूम हुई और श्यामजीकृष्ण वर्मा 23 अप्रैल को पेरिस छोड़ जेनेवा चले आए। बात यह है कि अब पेरिस का वातावरण उनके लिए अनुकूल नहीं रह गया था। उन्हें जेनेवा में रहने की अनुमति मिल गई और

वह पहली अगस्त से वहीं एक फ्लैट में रहने लगे। इसी फ्लैट में वह अपनी मृत्यु तक बराबर बने रहे।

1914 की मई-जून अंक के बाद इण्डियन सोसियोलोजिस्ट का प्रकाशन बंद हो गया था। इस बीच लड़ाई भी छिड़ चुकी थी। इसलिए स्विस सरकार ने श्यामजी को चेतावनी दी थी कि यदि आप यहाँ बैठकर राजनीतिक कार्य करेंगे, तो हम इसके विरुद्ध कोई कदम उठाने के लिए मजबूर होंगे। नतीजा यह हुआ कि इण्डियन सोसियोलोजिस्ट बंद हो गया। यह पत्र फिर 6 साल के बाद ही दुबारा प्रकाशित हो सका। पर चारों तरफ से इतनी विपत्ति आई कि उस पत्र को ज्यादा चलाना संभव नहीं हुआ। श्यामजी ने लिखना करीब-करीब बंद कर दिया। 1922 के सितम्बर में इसकी अंतिम प्रति प्रकाशित हुई जिसमें अंग्रेजों के लिए प्रार्थना नाम से एक व्यंग्यात्मक लेख छापा गया था। इस लेख में अंग्रेजों के चरित्र के अंधकारपूर्ण पहलू पर रोशनी डाली गई थी।

श्यामजी अब वृद्ध और दुर्बल हो चुके थे। वह चुपचाप अपने स्थान पर रहते थे, इन्हीं दिनों जवाहरलाल नेहरू उनसे मिले। उन्होंने इस पर यों लिखा :

''हम लोगों ने यूरोप में जो पौने दो साल बिताए उसमें हमें बहुत-से ऐसे पुराने क्रांतिकारी और हिन्दुस्तान से निकाले हुए भाई मिले जिनके नामों से मैं वाकिफ था।

''उनमें से श्यामजीकृष्ण वर्मा जिनेवा में एक मकान की सबसे ऊँची मंजिल पर अपनी बीमार पत्नी के साथ रहते थे। ये दोनों बूढ़े पति-पत्नी अकेले ही रहते थे। उनके साथ दिन-भर रहकर काम करनेवाले नौकर न थे, इसलिए उनके कमरे गंदे पड़े रहते थे, जिनमें दम घुटता-सा था। हर चीज के ऊपर धूल की मोटी तह जमी हुई थी। श्यामजी के पास काफी रुपया था, लेकिन वह रुपया खर्च करने में विश्वास नहीं रखते थे। वह ट्राम में बैठकर जाने के बदले कुछ पैसे बचा लेना ज्यादा पसन्द करते थे। जो कोई उनसे मिलने जाता उसको वह शक की निगाह से देखते थे और जब तक इससे उल्टी बात साबित न हो जाए तब तक यही मान बैठते थे कि आनेवाले महाशय या तो ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट हैं या उनके धन के गाहक हैं। उनकी जेबें उनके 'इण्डियन सोसियोलोजिस्ट' नाम के अखबार की पुरानी कापियों से भरी रहती थीं। वह उन्हें खींचकर निकालते और कुछ जोश के साथ उन लेखों को दिखाते जो उन्होंने कोई बारह बरस पहले लिखे थे। वह ज्यादातर पुराने ज़माने की बातें किया करते थे। हैमस्टीड में इण्डिया हाउस में क्या हुआ, ब्रिटिश सरकार ने उनके भेद लेने के लिए कौन-कौन शख्स भेजे और उन्होंने किस तरह उन्हें पहचानकर उनको चकमा दिया, आदि। उनके कमरों की दीवारें पुरानी किताबों से भरी अलमारियों से ढँकी हुई थीं। उन किताबों को पढ़ता-पढ़ाता कोई नहीं था, इसलिए उन पर धूल जमी हुई थी और वे, जो कोई वहाँ जा पहुँचता उसकी तरफ दुःख भरी निगाहों से देखती-सी मालूम

होती थीं। किताबें और अखबार फर्श पर भी इधर-उधर पड़े रहते थे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे कई दिनों और हफ्तों से, मुमकिन है महीनों से, इसी तरह पड़े हुए हैं। उन तमाम जगह में शोक की छाप, मनहूसियत की हवा छाई हुई थी। जिन्दगी वहाँ ऐसी मालूम पड़ती थी जैसे कोई अनचाहा अजनबी घुस आया हो। अँधेरे और सुनसान बरामदों में चलते हुए ऐसा डर मालूम पड़ता था कि किसी कोने में कहीं मौत की छाया तो नहीं छिपी हुई है। जानेवाले उस मकान में से निकलकर ही चैन की लम्बी साँस लेते और बाहर की हवा पाकर खुश होते थे।

''श्यामजी अपनी दौलत की बाबत कुछ इन्तज़ाम, पब्लिक के कामों के लिए कोई ट्रस्ट, कर देना चाहते थे। शायद वह विदेशों में शिक्षा पानेवाले हिन्दुस्तानियों के लिए कुछ इन्तज़ाम करना पसन्द करते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं भी उनके उस ट्रस्ट का ट्रस्टी हो जाऊँ। लेकिन मैंने उस ज़िम्मेदारी को अपने ऊपर लेने की कोई ख्वाहिश ज़ाहिर नहीं की। मैं नहीं चाहता था कि मै उनके रुपये-पैसे के मामलों के चक्कर में फँसू। इसके अलावा मैंने यह भी महसूस किया कि अगर मैंने ही जरूरत से ज़्यादा दिलचस्पी ज़ाहिर की तो उन्हें फौरन ही यह शक हो जाएगा कि उनकी दौलत पर मेरा दाँत है। यह तो किसी को नहीं मालूम था कि उनके पास कितनी दौलत है। अफवाह भी उड़ी थी कि जर्मनी में सिक्के की कीमत गिरने से उनको बहुत नुकसान हुआ था।

''कभी-कभी कोई नामी-गरामी हिन्दुस्तानी जिनेवा से होकर गुज़रते थे। उनमें जो लोग राष्ट्र-संघ में शामिल होने के लिए आते थे वे तो हाकिमी किस्म के लोग होते थे और यह ज़ाहिर है कि श्यामजी ऐसे लोगों के पास तक नहीं फटक सकते थे लेकिन मज़दूर-दफ्तर में कभी-कभी नामी गैर-सरकारी हिन्दुस्तानी आ जाते थे, जिनमें मशहूर कांग्रेसी भी होते थे। श्यामजी इन लोगों से मिलने की कोशिश करते। श्यामजी से मिलकर उन लोगों पर जो असर होता था वह बड़ा ही दिलचस्प होता था। पर श्यामजी से मिलते ही ये लोग घबरा उठते थे और न सिर्फ पब्लिक में ही उनसे मिलने से बचने की कोशिश करते थे, बल्कि खानगी में भी उनसे मिलने के लिए किसी-न-किसी बहाने से माफी माँग लेते थे। वे लोग समझते थे कि श्यामजी से ताल्लुक रखने या उनके साथ देखे जाने में ख़ैर नहीं है।

''इसलिए श्यामजी और उनकी पत्नी को एकाकी ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी। उनके न तो कोई बाल-बच्चे ही थे, न कोई रिश्तेदार या दोस्त ही; उनका कोई साथी भी नहीं था। शायद किसी भी मनुष्य, प्राणी से उनका सम्पर्क नहीं था। वह तो पुराने ज़माने की यादगार थे। सचमुच उनका ज़माना गुज़र चुका था। मौजूदा ज़माना उनके लिए मौज़ूँ नहीं था। इसलिए दुनिया उनकी तरफ से मुँह फेरकर मज़े से चली आ रही थी। लेकिन फिर

भी उनकी आँखों में पुराना तेज था, और यद्यपि उनमें और मुझमें एक-सी कोई चीज़ नहीं थी फिर भी उनके प्रति मैं अपनी हमदर्दी व इज़्ज़त को नहीं रोक सकता था।

"बाद में अखबारों में खबर छपी कि वह मर गए और उनके कुछ दिन बाद ही वह भली गुजराती महिला भी, जो दूसरे मुल्कों में देश-निकाले में भी ज़िन्दगी-भर उनके साथ रही थी, मर गई। अखबारों की खबरों में यह भी कहा गया था कि उन्होंने (उनकी पत्नी ने) विदेशों में हिन्दुस्तान की औरतों की शिक्षा के लिए बहुत-सा रुपया छोड़ा है।"

नेहरूजी ने अंग्रेज़ो के ज़माने में प्रकाशित अपनी आत्मकथा में श्यामजी के लिए बड़ी अपमानजनक बातें लिखी थीं। उस बूढ़े क्रांतिकारी के चरणों में बैठकर वह कुछ आँसू बहाते, इसकी बजाय **Whole Time servant** न रख पाने या न रखने के कारण जो कथित गंदगी और व्यवस्था थी, वही नेहरूजी को अखरी। नेहरूजी ने यूरोप में बैठे क्रांतिकारियों की जिस प्रकार हँसी उड़ाई, उसके लिए इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा। 1930 में वह जेनेवा के एक प्रसिद्ध अस्पताल में भेजे गए थे। 1930 के 30 मार्च को रात्रि के साढ़े ग्यारह बजे 73 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। डॉ. अविनाश भट्टाचार्य ने लिखा है कि उनकी लाश तीसरे दिन जलाई गई और वहाँ सेंट जार्ज के कल्पवरियम में 1540 नम्बर बक्स में सुरक्षित है, जहाँ वह 2038 साल तक रहेगी। उनकी मृत्यु का समाचार स्विटज़र लैण्ड की कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था, जिसमें यह लिखा था कि थोड़े दिनों की बीमारी के बाद ही उनका देहान्त हुआ। उनकी पत्नी 1933 की 23 अगस्त को मरीं।

श्यामजीकृष्ण वर्मा छात्रवृत्तियाँ देने के अतिरिक्त बहुत दान देते थे। उन्होंने पेरिस विश्वविद्यालय को भी दान दिया। कुछ लोगों का कहना है कि श्यामजीकृष्ण वर्मा के पास इतना धन कहाँ से आया इसका कुछ पता नहीं लगता। एक खबर यह है कि बड़ौदा के गायकवाड़ ने उनको काफी धन दिया था। अवश्य यह धन क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए नहीं दिया गया था, बल्कि इसलिए दिया गया था कि वह उनके पक्ष का समर्थन करें। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि श्यामजी ने स्टाक एक्सचेंज में भी काफी धन पैदा किया। इसमें सन्देह नहीं कि श्यामजी को अज्ञात साधनों से धन प्राप्त होता था पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने प्राप्त धन का खुलकर देश-सेवा में प्रयोग किया और इस दृष्टि से उनका नाम एक प्रधान क्रांतिकारी के रूप में रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। श्यामजीकृष्ण वर्मा पर अधिकांश तथ्य अविनाश भट्टाचार्य की पुस्तक से संकलित हैं, जो बहुत वर्षों तक एक सक्रिय क्रांतिकारी के रूप में यूरोप में रहे।

मादाम विकाजी कामा

महान क्रान्तिकारिणी मादाम विकाजी कामा का जीवन बहुत ही रोमाचकारी और अद्‌भुत घटनाओं से परिपूर्ण है। 1881 में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम सोराबजी फ्रेमजी पटेल था। वह एक पारसी सौदागर थे। बचपन से ही मादाम की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार से हुई थी कि वह हर मामले में बहुत स्वतन्त्र विचार रखती थीं। उनके माँ-बाप के 9 बच्चे थे। मादाम कामा के सभी भाई अपने पिता की तरह व्यापार में सफल हुए, पर मादाम कामा की रुचि बिल्कुल भिन्न प्रकार की थी। उन्होंने 1885 में रुस्तम के.आर कामा नामक एक पारसी सालिसीटर के साथ शादी की। पति रुस्तम कामा एक विख्यात् पारसी परिवार के सदस्य थे और उनके पिता बहुत प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद थे। अपने भावी पति के साथ मादाम कामा का परिचय विद्या-चर्चा के कारण ही हुआ था। पर शादी के बाद थोड़े दिनों के अन्दर ही देखा गया कि पति-पत्नी में ठीक से बन नहीं रही है। पति बहुत डरपोक, खैरख्वाह प्रकृति के थे जब कि पत्नी बहुत ही जोशीली और हर काम में भावुकता से विचार करनेवाली थी। 5-6 साल के अन्दर ही दोनों में मतभेद अत्यधिक बढ़

गया। यहाँ तक कि बातचीत भी बन्द हो गई।

इन्हीं दिनों बम्बई में ताऊन फैला। उन दिनों तक ताऊन के विरुद्ध किसी प्रकार का टीका आविष्कृत नहीं हुआ था। मादाम कामा ने जी खोलकर रोगियों की सेवा की, यद्यपि इस प्रकार की सेवा जान हथेली पर रखकर ही की जा सकती थी। सब लोगों ने, विशेषकर परिवारवालों ने उनको मना किया, पर वह नहीं मानीं। उन्होंने बहुत-से रोगियों को लाभ पहुँचाया। वह स्वयं ताऊन के रोगियों का बैण्डेज बाँधती रहती थीं, उनकी सेवा करती थीं और उन्हें दवा-दारू देती थीं।

1901 के अप्रैल में मादाम कामा युरोप गईं। वहाँ पहले दादाभाई नौरोजी के आधीन कांग्रेस का प्रचारकार्य करती रहीं। नौरोजी के ही ज़रिये से मादाम कामा का परिचय श्री सरदारसिंह राणा के साथ हुआ और इस प्रकार से उनका सम्बन्ध श्यामजीकृष्ण वर्मा और यूरोप में मौजूद तमाम अन्य क्रान्तिकारी के साथ हुआ। जब श्यामजीकृष्ण वर्मा ने इण्डियन 'सोसिओलॉजिस्ट' पत्र चलाना शुरू किया तब मादाम कामा उसकी प्रधान लेखिका हो गईं और वह साथ ही होमरूल सोसायटी में भी जोश के साथ काम करने लगीं।

जब श्यामजी के घर में 1905 की 10 मई को 1857 के प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सम्बन्ध में सभा हुई तो मादाम कामा इस सभा की अध्यक्ष चुनी गईं और उन्होंने 1857 के वीरों की प्रशंसा करते हुए एक भाषण दिया, जिसकी बड़ी सराहना हुई।

जब लन्दन भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए बहुत गर्म हो गया, तो मादाम कामा भी श्यामजी के साथ पेरिस चली गईं और वहाँ से क्रान्ति का कार्य होता रहा। मादाम कामा इन दिनों बिल्कुल पागल-सी होकर काम करती रहीं, विशेषकर उन्होंने जब सुना कि लाला लाजपतराय आदि को देशनिकाला दिया गया है, तब वह बहुत नाराज़ हुईं।

1907 के 18 अगस्त को जर्मनी की स्टुटगार्ट नामक शहर में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन हुआ था। जब इससे पहले इस सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था, तो उसमें भारतीय प्रतिनिधि के रूप में दादाभाई नौरोजी मौजूद थे, पर अब की बार क्रान्तिकारी यह चाहते थे कि नरम दल के लोग उसमें न जाएँ, बल्कि मादाम कामा और सरदार राणा उसमें जाएँ। तदनुसार मादाम कामा भारतीय प्रतिनिधि के रूप में स्टुटगार्ट पहुँचीं। गरम विचार रखनेवाली क्रान्तिकारिणी के रूप में उनकी ख्याति पहले ही फैल चुकी थी, इसलिए बाद को इंग्लैंड के प्रधानमंत्री श्रमिकदलीय रैम्जे मेकडोनल्ड ने जी तोड़ कोशिश की और वह प्रतिनिधि के रूप में मानी नहीं गईं। पर फ्रांसीसी समाजवादी नेता अध्यापक ज़ोरे, जर्मन नेता हेर बेकेल, प्रसिद्ध क्रांतिकारी लीब-क्नेख्त, क्रांतिकारी रोज़ा लोक्सम्बर्ग और ब्रिटिश समाजवादी हिण्डमैन ने उनके प्रतिनिधित्व का समर्थन किया और तब वह इस सम्मेलन

में भारत की प्रतिनिधि मानी गई। मादाम कामा ने इसी अवसर पर अपने हाथ से बनाया हुआ और बहुत दिनों से कल्पित राष्ट्रीय झण्डा फहराया और उसे अभिवादन करते हुए उन्होंने एक प्रस्ताव भी सम्मेलन के सामने रखा। उस प्रस्ताव में यह कहा गया था कि भारत में ब्रिटिश शासन का जारी रहना निश्चित रूप से विपत्तिजनक है और भारत के हितों के लिए बहुत ही हानिकारक है, सारी दुनिया के स्वतन्त्रताप्रेमियों को चाहिए कि वे संसार के इस 5वें भाग को मुक्त कराने के लिए अपना सहयोग दें, क्योंकि स्वस्थ सामाजिक स्थिति का तकाज़ा यह है कि कोई भी जाति किसी तानाशाही अत्याचारी सरकार के अधीन न रहे।

मादाम कामा ने अपने प्रस्ताव के समर्थन में बहुत जोशीला भाषण दिया। सब लोगों ने प्रस्ताव का समर्थन किया। हाँ, ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने इसका विरोध किया। केवल प्रतिनिधि हिण्डमैन ने उनका समर्थन किया। इसपर सभापति ने प्रस्ताव पर वोट नहीं लिया क्योंकि सम्मेलन का नियम यह था कि हर प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो। इस पर बड़ा झगड़ा मचा। जो कुछ भी हो, मादाम कामा ने इस समय अन्तर्राष्ट्रीय रूप से भारत की स्वतन्त्रता का मुकद्दमा संसार के सामने रखा। इसलिए जब भी यह कहा जाता है कि जवाहरलाल नेहरू या अन्य किसी व्यक्ति ने भारतीय आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचा दिया, तो उसपर हमें बड़ी हँसी आती है। इसके पहले बूअर-युद्ध के समय श्यामजी ने गाँधीजी द्वारा ब्रिटिश पक्ष के समर्थन का विरोध करते हुए बूअरों का समर्थन किया था।

इस बीच भारत में बहुत-सी घटनाएँ होती रहीं और मादाम कामा बराबर उन घटनाओं के साथ अपने को परिचित रखती रहीं। 1907 में सूरत कांग्रेस में गरम और नरम दल में जिस प्रकार झगड़ा हुआ, वह मादाम कामा को ज्ञात हुआ और उस पर उन्होंने खुशी ही मनाई। ज्ञात हुआ कि 1908 में कांग्रेस का कोई अधिवेशन होगा। इसपर मादाम कामा और लन्दन में उस समय मौजूद क्रांन्तिकारियों ने यह तय किया कि लन्दन के टैक्सटॉन हाल में एक सम्मेलन किया जाए जिसमें अधिक-से-अधिक भारतीय नेता भाग लें। यह सम्मेलन अपने ढंग से इस माने में सफल रहा कि इसमें कई बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति मौजूद रहे जिनमें पंजाब के लाला लाजपतराय, बंगाल के विपिनचन्द्र पाल, महाराष्ट्र के खापर्डे, गोकुलचन्द्र नारंग और आगा खाँ भी मौजूद थे। खापर्डे को अध्यक्ष बनाया गया था।

यद्यपि इतने बड़े-बड़े नेता वहाँ पर मौजूद थे, पर मादाम कामा का ही भाषण अधिवेशन का सबसे सुन्दर भाषण रहा, जिसमें उन्होंने यह कहा कि हमें अंग्रेजों का बायकाट करना चाहिए और भारतीयों को यही शिक्षा देनी चाहिए कि वे असहयोग करें। इस प्रस्ताव का समर्थन श्री ज्ञानचन्द्र वर्मा ने किया। उन्हीं दिनों तुर्की देश में कुछ घटनाएँ हुई थीं, जिस पर वी.वी. एस. अय्यर ने तुर्कों का अभिनन्दन करते हुए प्रस्ताव सामने रखा। प्रसिद्ध

कलापारखी डॉ. आनन्दकुमार स्वामी स्वयं राजनीतिज्ञ न होते हुए भी उस सभा में मौजूद थे। उन्होंने एक भाषण में यह प्रस्ताव रखा कि भारत को स्वराज्य देना चाहिए। सावरकर ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया और यह स्पष्ट कर दिया कि स्वराज्य से उनका मतलब यह है कि भारत पर अंग्रेजों का या किसी विदेशी शक्ति का किसी प्रकार से नियन्त्रण न रहे।

हम फिर एक बार यहाँ पर रुककर इस ओर पाठक की दृष्टि आकर्षित करना चाहते हैं कि यह प्रचार किया जाता है कि नेहरू ने ही अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के साथ भारत की समस्या को संयुक्त किया। पर असल में यह गौरव क्रांतिकारियों को ही प्राप्त है जो लन्दन तथा यूरोप की राजधानियों में बैठकर राजनीति कर रहे थे और यह कोशिश कर रहे थे कि वहाँ के राजनीतिज्ञ सब तरह से भारत का समर्थन करें। वे यह भी चाहते थे कि संसार के अन्य देशों में जो स्वतन्त्रता-आन्दोलन चल रहे हैं, उनके साथ भारत के आन्दोलन को संयुक्त किया जाए।

इन्हीं दिनों भारत में नासिक-षड्यन्त्र चल निकला। मादाम कामा ने वहाँ पर बैठे -बैठे बम्बई में अभियुक्तों की ओर से बैरिस्टर नियुक्त किए। इसके साथ उन्होंने यह भी हिदायत दी कि सारे काग़ज़ात एक अंग्रेज बैरिस्टर के पास भेज दिए जाएँ जिनसे कि वह अपने मत पेश कर सके और बम्बई के वकील को बता सके कि किस प्रकार इस मामले की पैरवी की जा सकती है।

इससे यह प्रकट है कि मादाम कामा श्यामजीकृष्ण वर्मा से एक कदम आगे बढ़कर खुल्लमखुल्ला क्रांतिकारी आन्दोलन का समर्थन कर रही थीं और यह चाहती थीं कि क्रांतिकारी आन्दोलन भारत में जोर पकड़े।

1911 के 17 जून को सुदूर दक्षिण के टिनेवेली जिले के रेलवे जंकशन पर एक अद्भुत घटना हुई। वह यह कि वांशी अय्यर ने मिग ऐशे नामक एक अंग्रेज को गोली से मार दिया। यह वहाँ मजिस्ट्रेट थे।

यह खबर जब विदेश में पहुँची तो डॉ. अविनाश भट्टाचार्य वहीं पर थे और उन्होंने लिखा कि सब क्रांतिकारी यह सुनकर बहुत खुश हुए। मादाम कामा ने इस पर टिप्पणी करते हुए यह लिखा कि जो कुछ भी इस समय भारत में हो रहा है, वह भगवान की इच्छा के कारण ही हो रहा है और भगवद्गीता में बताए हुए ढंग से हो रहा है। यह स्मरण रहे कि उस जमाने में भगवद्गीता सभी हिन्दुओं के, यहाँ तक कि क्रांतिकारियों के दिमाग पर छाई हुई थी। इस कारण मादाम कामा पारसी महिला होते हुए भी इस तरह से लिख रही थीं। मादाम कामा ने यह लिखा कि एक तरफ तो दिल्ली दरबार लग रहा है और दूसरी तरफ यह हो रहा है कि टिनेवेली और मेमनसिंह में (वहाँ राजकुमार राय नामक एक पुलिस

अफसर की हत्या की गई थी) ऐसी घटनाएँ हो रही थीं। जिनसे यह पता लगता था कि भारत बिल्कुल सोया हुआ नहीं है, वह जाग चुका है।

इस सम्बन्ध में और भी एक मजेदार घटना है जिसकी ओर श्री भट्टाचार्य ने दृष्टि आकृष्ट की है कि जब अय्यर गिरफ्तार हुए, तो उनके पास यूरोप में बैठे भारतीय क्रांतिकारियों द्वारा सम्पादित और प्रकाशित 'वन्देमातरम्' की अप्रैल वाली प्रति पाई गई थी और उसके साथ-साथ तमिल भाषा में लिखा एक पत्र भी मिला था। उस पत्र से मालूम होता था कि क्रांतिकारियों की यह इच्छा थी कि जिस दिन ब्रिटिश राजा का अभिषेक हो, उसी दिन कई घटनाएँ ऐसी हों जिनसे यह साबित हो जाए कि क्रान्तिकारी सो नहीं रहे हैं। उस लेख में लिखा था—'किसी सभा, किसी स्टेशन, किसी दुकान या किसी गिरजे या बाग या किसी भी स्थान में जहाँ भी मौका मिले, अंग्रेजों की हत्या अवश्य होनी चाहिए। इसमें अफसर या साधारण व्यक्तियों में कोई फर्क न किया जाए। महान नाना साहब ने यह बात समझ ली थी और हमारे मित्रों ने भी यह बात समझना शुरू कर दी है। उनकी चेष्टा सफल हो, उनके हाथ लम्बे हों। अब हम अंग्रेजों को यह कह सकते हैं कि जब तक तुम जंगल से निकल न जाओ तब तक खुशियाँ न मनाओ।''

जब जिला मजिस्ट्रेट ऐशे के हत्यावाले मामले का फैसला हुआ तो उसमें यह प्रमाणित हो गया कि जिस पिस्तौल से हत्या की गई थी वह एक ब्राउनिंग पिस्तौल थी और उसे छत्रभुज अमीन नामक व्यक्ति लंदन से लाया था। उस पिस्तौल की कहानी यों थी कि लन्दन मे बैठे हुए क्रान्तिकारी राणा तथा सावरकर बराबर यह कोशिश कर रहे थे कि देश के अन्दर किसी-न-किसी प्रकार से छोटे अस्त्र यानी पिस्तौल आदि भेजे जाएँ। 1909 की फरवरी में 20 आटोमैटिक ब्राउनिंग पिस्तौलें और उसके लायक गोलियाँ श्री राणा के द्वारा भेजी गई थीं। छत्रभुज अमीन नामक एक व्यक्ति इंडिया हाउस में रसोइये का काम करता था और जब वह बंबई लौटा, तो उसके साथ एक बक्स में छिपाकर ये पिस्तौलें भेजी गई थीं।

इस सम्बन्ध में जब मादाम कामा को मालूम हुआ तो उन्होंने एक अद्भुत कार्य किया। वह चाहती थीं कि दूसरे क्रान्तिकारियों को बचाया जाए, भले ही इस प्रकार बचाने में अपने ऊपर विपत्ति आए। उनकी इच्छा थी कि सरदारसिंह राणा और सावरकर इस मामले में फँसाए न जा सकें। इसलिए उन्होंने न तो किसी से सलाह की और न किसी से पूछा, वह सीधे कौंसल जनरल के दफ्तर पहुँच गईं। जब ब्रिटिश कौंसल जनरल को उनका कार्ड मिला, तो वह खुशी-खुशी दरवाजे तक आए और उनका बड़े तपाक से स्वागत हुआ। वह मादाम कामा के नाम और कृत्यों से परिचित थे इसलिए उन्होंने यह अनुमान कर लिया कि मादाम कामा आकर कोई गुप्त बात बताना चाहती हैं तो इसमें खुशी की बात तो थी

ही। वह बहुत खुश होकर मादाम कामा के पास आ गए। उन्होंने यह सोचा कि गत 5 साल से आतंकवादी किस्म के जो कार्य हो रहे हैं, उनका राज शायद अब खुले।

मादाम कामा भीतर गईं और उन्होंने डॉ. भट्टाचार्य के अनुसार यह बयान कौंसल जनरल को दिया–"मैं उस कुख्यात ब्राऊनिंग पिस्तौल की कहानी बताने आई हूँ। इसमें कोई शक नहीं कि पिस्तौलें जिस बक्स से भेजी गई थीं, वह बक्स सरदारसिंह राणा का था, पर वह पिस्तौलों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते थे। यहाँ तक कि सावरकर भी यह नहीं जानते थे कि उस बक्स में क्या था। दोनों बिल्कुल निर्दोष है। मैंने ही पिस्तौलें इकट्ठी कीं और मैंने ही उन्हें कौशल के साथ बक्स में बन्द किया था। मैंने ही उन पिस्तौलों को छत्रभुज अमीन के साथ बम्बई भेजा था। पिस्तौलों की पूरी ज़िम्मेदारी मेरी है न कि किसी और की।

यहाँ यह बताया जाए कि ऐशे के अलावा इन पिस्तौलों में से एक पिस्तौल के द्वारा 1909 की 21 दिसम्बर को नासिक के मजिस्ट्रेट मि जेक्सन की भी हत्या की गई थी।

जब कौंसल जनरल ने मादाम कामा का वक्तव्य सुना, तो वह हतबुद्धि रह गए। वह समझ नहीं पाए कि क्या करना चाहिए, क्योंकि कोई स्पष्ट रास्ता नज़र नहीं आता था। नतीजा यह हुआ कि उन्होंने मादाम कामा का बयान रख लिया और उसे बाकायदा नत्थी करके मादाम कामा को उसकी रसीद दे दी।

मादाम कामा ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि कौंसल जनरल को मैंने जो बयान दिया है वह चुपचाप दबा रह जाए। इसलिए उन्होंने घर लौटकर उस बयान की एक प्रतिलिपि बम्बई में मि. बैप्टिस्टा के पास भेजी।

पर मादाम कामा के इस बयान पर कोई कार्य नहीं किया गया। मालूम होता है कि ब्रिटिश सरकार के सलाहकार इस बात को समझ गए कि मादाम कामा महज़ दूसरे क्रांतिकारियों को बचाना चाह रही हैं, इसलिए उन्होंने ऐसा बयान दिया है। इसके अलावा यह भी डर था कि कहीं मादाम कामा को गिरफ्तार करने की चेष्टा की गई तो उसी प्रकार बावेला न उठ खड़ा हो, जैसे कि सावरकर के मामले में अंतर्राष्ट्रीय रूप में हुआ।

मादाम कामा पेरिस में बनी रहीं, पर वह वहाँ क्रांतिकारियों को सब तरह से सहायता देती रहीं। जब 1919 में डॉ. भट्टाचार्य उनके घर पहुँचे, तो मादाम कामा मदनलाल धींगरा की फाँसी पर एकदम से झर-झरकर रोने लगीं। यद्यपि मदनलाल धींगरा को फाँसी लगे हुए कई वर्ष हो गए थे, परन्तु मादाम के लिए उनकी याद बिल्कुल ताज़ी थी; इसी प्रकार जब सावरकर का प्रश्न उठा तब वह एकदम टूट-सी पड़ीं। उन्होंने भट्टाचार्य से कहा–"सावरकर की चिंतन-शक्ति और कर्मशक्ति अतुलनीय है। मुझे यह भय नहीं था कि हेग की अंतर्राष्ट्रीय अदालत पर अंग्रेज़ों का इतना प्रभाव पड़ेगा और सावरकर नहीं छोड़े जाएँगे।

मैं तो आशा करती थी कि सावरकर जरूर छोड़ दिए जाएँगे।''

इसके बाद मादाम कामा कुछ देर चुप रहीं और फिर बोलीं— ''मेरे विचारों के अनुसार अंग्रेज़ इस संसार में स्वतंत्रता के सबसे बड़े शत्रु हैं। रहा यह कि अंग्रेज़ों में ही ऐसे लोग उत्पन्न हुए हैं, जैसे मनीयर विलियम्स, पिट, हर्बर्ट स्पेन्सर, तो मेरा विचार तो यह है कि ये लोग असली अंग्रेज़ नहीं थे। असली अंग्रेज़ तो लार्ड राबर्टस, बैलफूर और यह दो मुँहा साँप जॉन मारले।

मादाम उन दिनों बराबर आयरलैण्ड, मिस्र, तुर्की, मोरक्को और दूसरे देशों के स्वतन्त्र योद्धाओं के साथ पत्र-व्यवहार करती रहती थीं। उन्होंने डॉ. भट्टाचार्य को ये सब पत्र दिखलाए और इस प्रकार उन्हें उत्साह दिलाया। उन दिनों वह 'वन्देमातरम्' नामक पत्र बन्द कर चुकी थीं और अब वह 'इण्डियन फ्रीडम' नाम से एक पत्र चला रही थीं।

जब 1914 में प्रथम महायुद्ध छिड़ा तो बर्लिन में बड़े जोरों के साथ जर्मनों के साथ मिलकर भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र शुरू हुए। उस समय मादाम कामा को शत्रु पक्ष की एजेण्ट मानकर नज़रबन्द कर लिया गया और उन्हें विशी नामक स्थान में एक पुराने गढ़ में रखा गया। यों तो उनका स्वास्थ्य पहले ही गिर चुका था, क्योंकि एक तो वह स्वास्थ्य की कोई परवाह नहीं करती थीं और दूसरे गरीबी से उन्हें बराबर युद्ध करना पड़ रहा था। उन्हें 4 साल तक विशी के उस पुराने गढ़ में नज़रबन्द रखा गया।

जब वह छूट गईं, तो सरदारसिंह राणा ने उन्हें देखा और उन्हें बहुत कष्ट हुआ क्योंकि वह कंकाल मात्र रह गई थीं और उनका स्वास्थ्य बुरी तरह गिर गया था। इस पर राणा ने यह कहा कि आपको भारत लौट जाना चाहिए और इसके लिए पेरिस के ब्रिटिश राजदूत के जरिये यह चेष्टा होनी चाहिए। बाद को मालूम हुआ कि मादाम कामा को यों ही नहीं नज़रबन्द किया गया था बल्कि उनके विरुद्ध कुछ ठोस प्रमाण भी थे। वे प्रमाण यह थे कि जब भारतीय सैनिक अंग्रेजों की तरफ से युद्ध करने के लिए यूरोप जा रहे थे और बन्दरगाह तथा उसकी सड़कों आदि पर मादाम कामा से उनकी भेंट हो जाती थी, तो मादाम कामा उन्हें यह समझाती थीं कि यह युद्ध हमारा युद्ध नहीं है, यह साम्राज्यवादी युद्ध है, इससे हमें कुछ लेना-देना नहीं है। तुम लोगों को इस युद्ध में भाग नहीं लेना चाहिए। जब ब्रिटिश सरकार को मादाम कामा के कार्य का पता चला, तो उन्होंने फ्रांसीसी सरकार को इस सम्बन्ध में लिखा और तदनुसार मादाम कामा को नज़रबन्द कर लिया गया। छूटने के बाद उन्होंने अपने कुछ भारतीय मित्रों को पत्र लिखा। उन पत्रों से निराशा टपकती थी, एक तो भारत में क्या हो रहा है, इस सम्बन्ध में उनको बहुत कम मालूम होता था, दूसरे यह कि उन्हें लगता था कि जिस उद्देश्य को लेकर वह चली थीं वह पूरा नहीं हुआ और उसके पूरा होने की कोई संभावना भी नहीं दीख पड़ती थी। वह आर्थिक रुप से भी बहुत

मुसीबत में रहीं और पेरिस के गरीब मोहल्ले में रहती थीं। एक बार भारत से कोई पारसी रिश्तेदार उनसे पेरिस में मिलने गया तो उसने देखा कि वह एक अँधेरे कमरे में दूसरी बूढ़ी स्त्रियों और बूढ़ों के साथ बैठी हुई थीं। इनमें से अधिकांश फ्रांसीसी थीं। "जब उन्होंने मुझे देखा तो उनको बड़ा कौतूहल हुआ और वह यह सुनना चाहती थीं कि गुजराती बोली सुनने में कैसी होती है। जब हम लोग बात कर रहे थे तो वे बड़े ध्यान से सुन रही थीं और जब हम लोग हँस रहे थे, तो वे भी हँस रही थीं और जब हम लोग दुख मानते तो वे भी दुखी हो जाती थीं।"

जब मादाम इस तरह किसी प्रकार पेरिस में दिन बिता रही थीं, तो किसी ने उनसे कहा कि आप भारत क्यों नहीं लौट जातीं। इस पर मादाम ने जोश के साथ कहा—"मुझे आशा है कि अंग्रेज भारत से निकाले जाएँगे। वे हमारे मुल्क पर अत्याचार कर रहे हैं। वे हमारी जनता का रक्त शोषण कर रहे हैं और उनका मांस खा रहे हैं।"

वह भारत क्यों नहीं लौट रही है इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि "अंग्रेज यह चाहते हैं कि मैं अपने पुराने कृत्यों पर माफी माँगूं और यह लिखकर दे दूँ कि भविष्य में मैं राजनीति में कोई भाग नहीं लूँगी।"

इस पर मित्र ने कहा कि आप ऐसा वायदा क्यों नहीं कर देतीं? अब तो आप काफी वृद्ध भी हो चुकी हैं। अब तो आप कोई विशेष राजनीति कर भी नहीं रही हैं। इस पर वह बहुत नाराज हो गईं और गुस्से में बोलीं—"कोई भी देशसेवा के लिए अतिवृद्ध नहीं होता। हरेक आदमी में कुछ-न-कुछ शक्ति है। मैं इतना तो कर ही सकती हूँ कि भारत में जाकर लोगों को स्वातन्त्र्य-युद्ध के लिए उद्‌बुद्ध करते हुए भाषण दे सकती हूँ।"

उस गुजराती व्यक्ति ने यह भी लिखा है कि उन दिनों मादाम कामा इतनी गरीब थीं कि वह साड़ी या गोरों की तरह कोई अच्छी-सी फ्राक नहीं पहनती थीं। वह एक लम्बा-सा चोगा पहने रहती थीं जो ड्रेसिंग गाऊन की तरह लगता था और उनके जूते भी स्त्रियों के ऊँची एड़ी वाले जूते नहीं थे, बल्कि साधारण जूते थे। उनके सिर पर एक छोटा-सा हैट था जो बहुत ही गरीबी का सूचक था। वह काला चश्मा पहनती थीं क्योंकि अभी मोतियाबिन्द का ऑपरेशन हुआ था।

जब जर्मनी में हिटलर का उदय हुआ और यह आशा बँधी कि अंग्रेजों से उसकी लड़ाई होगी तो मादाम कामा के मन में फिर आशा की रौप्यरेखा चमक गई। उन्होंने यह सोचा कि अब एक ऐसा व्यक्ति पैदा हुआ जो ब्रिटेन को रौंद डालेगा। उन दिनों उनकी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं थी और बराबर वह गिरती ही जा रही थी। उस समय भय यह था कि लड़ाई छिड़ते ही शायद वह फिर नज़रबन्द कर ली जातीं। मित्रों ने चेष्टा की और उन्हें भारत लौटने की अनुमति मिल गई। बम्बई आकर वह दादा भाई नौरोजी के रिश्तेदारों

के यहाँ रहीं और कुछ दिनों में ही उनकी हालत बहुत खराब हो गई। अन्तिम समय में वह अस्पताल में रहीं और 1935 के 13 अगस्त को उनका देहान्त हो गया।

किसी भारतीय ने भी नहीं जाना कि इस प्रकार एक तेजस्वी, देशभक्त महिला का अन्त हो गया। सही मायनों में वह ऐसी मरीं कि उनपर किसी ने न तो आँसू बहाए और न उनपर कोई गीत गाया गया। यह रहा एक क्रान्तिकारिणी का अन्त जो भारत के लिए जीती थीं और भारत के लिए मरी थीं। वह चाहतीं तो लन्दन और पेरिस में रहकर बहुत सुख का जीवन बिता सकती थीं। जब वह विदेश में गई थीं उस समय जवान भी थीं और काम करने में समर्थ भी थीं। उन दिनों उन देशों में काम करनेवाली विशेषकर भाषा जाननेवाली महिलाओं के लिए काफी सुविधा थी। बहुत बाद को लोगों ने मादाम कामा के सम्बन्ध में जाना। 1962 में भारत सरकार ने मादाम कामा के सम्बन्ध में एक डाक टिकट प्रकाशित किया। बहुतों ने उस डाक टिकट को देखा होगा, पर लोग भला क्या जानते होंगे कि मादाम कामा कौन थीं? भारत सरकार ने डाक टिकट प्रकाशित करते हुए एक पंक्ति की यह विज्ञप्ति निकाली कि वह एक क्रान्तिकारिणी थीं, पर इसका क्या अर्थ रहा, यह उनकी जीवनी से कुछ ज्ञात होता है।

श्यामजीकृष्ण वर्मा तथा उनकी साथी मादाम बी.आर. कामा कितने जागरूक थे, यह इस बात से प्रकट होता है कि उन्होंने यूरोप में रहने के जमाने में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी रूसी लेखक मेक्सिम गोर्की से सम्बन्ध स्थापित किया था। एक पत्र में गोर्की ने मादाम बी.आर. कामा को लिखा—"क्यों, आप रूसी पत्रों के लिए भारतीय स्त्रियों की वर्तमान स्थिति और राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके भाग लेने पर कोई लेख नहीं लिख सकतीं? यदि आप ऐसा लेख लिखें तो रूसी जनता तथा रूसी स्त्रियाँ इसके लिए आपको बहुत धन्यवाद देंगी। आप अपने लेख में यह बताएँ कि गंगा के तट पर रहनेवाले लोग तथा महान भारत के लोकतन्त्रतवाद और स्त्रियाँ किस प्रकार से जीते हैं और किस प्रकार से संग्राम करते हैं।" इसके उत्तर में मादाम बी.आर. कामा ने 31 अक्तूबर 1912 को लिखा,—मेरा सारा समय और सारा प्रयास देश तथा उसकी सेवा में लगता है, पर यदि मैं अपने देश के सम्बन्ध में कोई लेख लिख सकी, तो मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।"

मादाम कामा ने गोर्की को यह भी लिखा—"मैंने आपको भारतीय क्रांतिकारी तथा राजनीतिक विभूति विनायक दामोदर सावरकर द्वारा लिखी हुई एक पुस्तक भेजी है।"[1]

ऐसा मालूम होता है कि मादाम कामा ने जो पुस्तक भेजी होगी वह 1857 सम्बन्धी कृति होगी। गोर्की ने श्यामजीकृष्ण वर्मा के साथ भी पत्र-व्यवहार किया था। श्यामजीकृष्ण वर्मा यूरोप में, विशेषकर उन लोगों में बहुत प्रसिद्ध हुए थे, जो अपने-अपने देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन चला रहे थे। इस नाते रूसी क्रान्तिकारियों के साथ भी श्यामजीकृष्ण वर्मा का

सम्पर्क हुआ था। 1992 के 28 अक्टूबर को श्यामजी कृष्ण वर्मा ने गोर्की के एक पत्र के उत्तर में लिखा था—"मुझे इस बात पर बहुत खुशी है। इस समय यूरोप में कुछ लोग हैं जो राजनीतिक स्वतन्त्रता से ईमानदारी से प्यार करते हैं और जो न केवल अपने लिए स्वतन्त्रता चाहते हैं, बल्कि सारे संसार के लोगों के लिए स्वतन्त्रता चाहते हैं।"

इसके अलावा श्यामजीकृष्ण वर्मा ने यह लिखा था कि "मैं बहुत व्यस्त हूँ। इसलिए मैं रूसी पत्रिकाओं के लिए कोई लेख नहीं लिख सकता।" फिर भी उन्होंने गोर्की को अपने पत्र की एक प्रति भेजी और उसमें उन्होंने लिखा—"आपको इण्डियन सोसिओलॉजिस्ट में जो सामग्री प्राप्त होगी, उसी के आधार पर आप एक लेख लिख सकते हैं और फिर यह बता सकते हैं कि मेरे विचार क्या हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्यामजीकृष्ण वर्मा और मादाम कामा सारी दुनिया के क्रान्तिकारियों और क्रान्तिकारी विचारों के लोगों के साथ सम्पर्क करते थे।

श्यामजीकृष्ण वर्मा के सम्बन्ध में एक और बात का पता लगा है कि यह बड़ौदा के थे और बड़ौदा के महाराजा बहुत स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति थे। इस नाते ब्रिटिश सरकार बड़ौदा के राजा पर अविश्वास रखती थी। जब भी गायकवाड़ भारत से बाहर आते तो वह श्यामजीकृष्ण वर्मा से मिलते थे। इस पर इंग्लैंड के 'डेली टेलीग्राफ' नामक पत्र ने यह माँग की थी कि गायकवाड़ को राजा के पद से च्युतकर किया जाये। इससे महाराज गायकवाड़ घबरा गए और उन्होंने लन्दन के 'टाइम्स' को यह पत्र लिखा कि मैं कभी श्यामजी कृष्ण वर्मा से नहीं मिलता। हाँ, जब वे भारत में थे तब मैं उनसे मिलता था, पर अब उनसे कभी नहीं मिला। इस प्रकार हम थोड़े में देख सकते हैं कि श्यामजीकृष्ण वर्मा और मादाम कामा आदि किस रूप में क्रान्तिकारी कार्य कर रहे थे। वे सारी दुनिया के क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बद्ध थे।

करतारसिंह सराबा

गदर पार्टी के क्रांतिकारियों मे करतारसिह सराबा का विशेष स्थान इसलिए है कि उनके सारे जीवन का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि वह जन्मतः क्रांतिकारी थे। उनका जन्म 1896 में लुधियाना जिले के सराबा नामक स्थान में हुआ था। बहुत कम उम्र में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और उनके दादा ने ही उन्हें पाला। उनके कई रिश्तेदार सरकारी नौकरी में थे। इसलिए उनके रिश्तेदारों की यह इच्छा थी कि वह सरकारी नौकरी में जाएँ। उस ज़माने में सभी लोग यह चाहते थे कि हमारे बेटे सरकारी नौकरी करें। करतार सिंह का मन पढ़ने में नहीं लगता था, फिर भी वह पढ़ते रहे। पहले तो गाँव के प्राथमिक विद्यालय में पढ़े। इसके बाद वह लुधियाना के हाई स्कूल में पढ़े। पता नहीं क्यों, उनके साथी उन्हें अफलातून कहते थे। खेल-कूद में वह आगे रहते थे और वह लड़कों में सर्वथा नेता बन जाते थे।

जब वह नौवीं कक्षा तक पढ़ चुके, तो वह अपने चाचा के पास उड़ीसा चले गए जो महकमा जंगलात में किसी अच्छे पद पर थे। वहीं से उन्होंने मैट्रीक्यूलेशन पास किया और कॉलेज में भर्ती हो गए।

यह 1910-11 का समय था। वह पहले की तरह चंचल नहीं थे। अब वह बाहरी पुस्तकें पढ़ने लगे थे। देश में उनका मन नहीं लगा और उस ज़माने के सैकड़ों पंजाबियों की तरह उनकी इच्छा हुई कि देश के बाहर चला जाऊँ। इसपर घरवालों ने कोई आपत्ति

नहीं की, क्योंकि यह उस ज़माने में एक आम बात थी। वह अमरीका रवाना हो गए। 1912 में वह सैफ्रांसिस्को पहुँच गए। अब धीरे-धीरे बाहर से आनेवाले लोगों पर रोक-टोक लगने लगी थी और इमीग्रेशन अधिकारी ने उनसे पूछा, "तुम यहाँ क्यों आए हो?"

इसपर करतारसिंह ने कहा, "मैं पढ़ने के लिए आया हूँ।"

उस अधिकारी ने पूछा कि "क्या हिन्दुस्तान में पढ़ने की सुविधा नहीं है।"

इस पर करतारसिंह ने कहा कि क्यों नहीं है, पर मैं उच्च शिक्षा चाहता हूँ। इसीलिए मैं कैलोफोर्निया के विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए आया हूँ।

इमीग्रेशन अधिकारी ने इसपर पूछा, "पर यदि तुम्हें यहाँ उतरने न दिया जाए तो?"

प्रश्न बड़े मार्के का था और इसके उत्तर पर उनका सारा भविष्य निर्भर करता था। इसलिए उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से इसका उत्तर देने की कोशिश की जिससे अफसर खुश हो और उन्हें अमरीका में रहने दे। वह बोले, "मैं समझूँगा कि बड़ा भारी अन्याय हुआ। विद्यार्थियों के रास्ते में अड़चनें डालने से संसार की प्रगति रुक जाएगी, क्योंकि कौन जानता है कि मैं ही यहाँ शिक्षा पाकर संसार की भलाई का बड़ा भारी काम करने में समर्थ हो सकूँ। उतरने की आज्ञा न मिलने पर संसार उससे वंचित रह जाएगा।"

अधिकारी करतारसिंह के उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ और उसने उन्हें अमरीका में रहने की आज्ञा दे दी। इस प्रकार वह अमरीका में रहने को तो समर्थ हुए, पर उन्होंने थोड़े ही दिनों के अन्दर देखा कि यहाँ पैसे तो अच्छे मिलते हैं, पर हर समय भारतीयों को गाली दी जाती है। कहा जाता है—"डैम हिन्दू, ब्लैक कुली।" सभी अमरीकन ऐसा करते थे। अब धीरे-धीरे करतारसिंह का ध्यान राजनीतिक प्रश्नों की ओर गया कि आखिर क्या बात है कि भारतीय सब तरह से स्वस्थ और तगड़े हैं, अमरीकनों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम कर सकते हैं, फिर भी वह क्यों निम्न कोटि के समझे जाते हैं? वह यह समझते हैं कि भारत एक पराधीन देश है और इसलिए भारतीयों की कोई कद्र नहीं है।

जिस प्रकार से करतारसिंह अनुभव कर रहे थे उसी प्रकार से दूसरे भारतीय भी अनुभव कर रहे थे। देश की खबरें भी पहुँचती रहती थीं। नतीजा यह हुआ कि छोटी-छोटी सभाएँ होने लगीं। कहते हैं कि 1912 की मई को एक छोटी-सी सभी हुई और सभी ने हर तरह से देश-सेवा करने की प्रतिज्ञा की। डॉ. खानखोजे पहले से ही अमरीका में काम कर रहे थे। उन्होंने 'इनडिपेंडेंस लीग' नाम से एक संस्था बनाई थी। जब लाला हरदयाल वहाँ पहुँचे तो भारतीयों में आन्दोलन और तेज हो गया।

1913 की 30 दिसम्बर को सैक्रामैण्टो नामक स्थान में एक सभा हुई जिसमें बहुत-से भारतीय मौजूद थे। इनमें सभी तरह के भारतीय थे—बंगाली, मद्रासी, मराठा, सिक्ख, मुसलमान। अमरीका के सब राज्यों से स्वतंत्रता-प्रेमी आए थे और उन लोगों ने इस विषय पर विचार किया कि कैसे क्या होना चाहिए! तय यह था कि जर्मन कांसल भी वहाँ अतिथि के रूप में उपस्थित होंगे। लाला हरदयाल तो थे ही और जर्मन कांसल भी समय पर आ

गए। इस सभा में करतारसिंह और विष्णुगणेश पिंगले भी मौजूद थे। लाला हरदयाल ने उस दिन एक सुन्दर भाषण दिया। उन्होंने बर्न हार्डी नामक लेखक की पुस्तक 'जर्मनी और आगामी युद्ध' से एक अध्याय पढ़कर सुनाया और बताया कि जब अगली लड़ाई छिड़े तो भारत को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेना चाहिए। उन्होंने भारत के इतिहास पर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और पृथ्वीराज, बाबर, शेरशाह, और दूसरे मुगल सम्राटों के साथ-साथ गुरु तेगबहादुर, गुरुगोविन्द सिंह, और बन्दा बैरागी का नाम लिया। साथ ही उन्होंने 1857 के वीरों का भी हवाला दिया। दूसरे देशों के देशभक्तों का भी स्मरण किया गया। विशेषकर मैजिनी, विलियम टेल, लेनिन, सनयात सेन का जिक्र किया। चाफेकर बन्धु, खुदीराम बोस और कन्हाईलाल दत्त को भी श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

उस दिन लाला हरदयाल ने जो भाषण दिया वह बहुत ही अद्भुत था। वह मानो उपस्थित जनता को चुनौती देकर बोले कि तुम जान देने के लिए तैयार हो जाओ तो तुम्हें आज़ादी मिलेगी। सब लोग बहुत खुश हुए और बीच-बीच में जयजयकार बोलते रहे। करतारसिंह भाषण सुनकर गा पड़े :

चलो चलिए देश नू युद्ध करन
एहो आखिरी बचन ते फरमान हो गए।

चलो स्वतन्त्रता के युद्ध में शामिल हो जाएँ। अन्तिम आदेश हो चुका है। अब हम लोगों को चलना चाहिए।

जब करतारसिंह ने जोश के साथ यह गीत गाया तो उनके साथ सारे लोग झूम-झूमकर यह गीत गाने लगे।

इस प्रकार करतारसिंह लोगों की आँखों के सामने आ गए और तब से करतारसिंह ने तेज़ी से एक तरह से यह तय कर लिया कि देश के लिए ही जीना है और देश के लिए ही मरना है।

गदर पार्टी की ओर से *गदर* नामक अखबार निकाला गया जिसका कई भाषाओं में प्रकाशन होता था। इसके गुजराती संस्करण का सम्पादन खेमचन्द करते थे, गुरुमुखी संस्करण का सम्पादन गोपाल सिंह करते थे, गोधाराम उर्दू, संस्करण के सम्पादक थे और मराठी संस्करण के सम्पादक थे विष्णुगणेश पिंगले और डॉ. खानखोजे। पर करतारसिंह भी सम्पादक का कार्य किया करते थे। सच बात तो यह है कि यहाँ कौन सम्पादक था और कौन कम्पोज़ीटर था, यह पता नहीं चलता था क्योंकि सभी लोग सभी काम करते थे। हैण्ड प्रैस से छपाई होती थी और करतारसिंह कम्पोज़िंग का काम करते थे। वह जब कम्पोज़िंग का काम करते थे तो गुनगुनाते हुए यह गीत गाते थे —

सेवा देश दी जिंदड़िए बड़ी औखी
गल्लां करनियां ढेर सुखल्लियां ने

जिन्हा इस सेवा विच्च पैर पाया,
उन्हां लख मुसीबतां झल्लियाँ वे।

ए दिल, देश की सेवा बड़ी कठिन है, बातें बनाना सरल है। जो लोग इस सेवा-मार्ग पर चले उन्हें लाखों मुसीबतें झेलनी पड़ीं।

जब लड़ाई छिड़ने का मौका आया तो गदर पार्टी ने यह नारा दिया कि देश में लड़ें और वह गदर कर दें।

करतारसिंह सभी तरह का काम करते थे। पर उन्होंने अमरीका में रहते समय वायुयान विद्या का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह तय हुआ कि करतारसिंह भी दूसरे क्रान्तिकारियो की तरह भारत लौटेंगे। तद्नुसार वह भारत लौटे। 15 सितम्बर 1914 को वह कोलम्बो पहुँचे। हालत ऐसी हो गई थी कि लड़ाई छिड़ने के कारण ब्रिटिश सरकार बिल्कुल बावली हो रही थी और विदेश से जो भी व्यक्ति लौटता उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता और उसे जहाँ तक बन पड़ता गिरफ्तार कर लिया जाता। भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत ये गिरफ्तारियाँ हुआ करती थीं। पर करतारसिंह किसी तरह पुलिस की आँख बचाकर आ पहुँचे और उन्होंने आते ही न केवल गदर पार्टी के दूसरे लोगों से संबंध कर लिया, बल्कि उन्होंने शचीन्द्रनाथ सान्याल आदि देश के अन्दर काम करनेवाले लोगों से भी सम्बन्ध स्थापित कर लिया। सान्याल ने अपने 'बन्दी जीवन' में लिखा है कि करतारसिह से जब मै मिला तो वह मुझे देखकर बहुत खुश हुए और पूछने लगे कि बोलो रासबिहारी कब आएँगे?

शचीन्द्रनाथ सान्याल ने कहा कि "बस अब उन्हीं का नम्बर है। यहाँ ठहरने का ज़रा इन्तजाम हो जाए और आपका काम भी सिलसिले से होने लगे, फिर उनके आने में भी देर नहीं।"

क्रान्तिकारियों को यह लग रहा था कि क्रान्ति की आशा उज्ज्वल है और अबकी बार कुछ होकर ही रहेगा। अमेरिका से कई दल भारत आ चुके थे और करतारसिंह ने बड़ा परिश्रम किया था। शचीन्द्रनाथ सान्याल ने लिखा है कि करतारसिंह रोज़ साइकिल पर बैठकर देहातों में लगभग 40-50 मील का चक्कर लगाते थे और गाँव-गाँव में जाकर क्रान्ति का प्रचार करते थे। अजीब बात यह है कि इतना परिश्रम करने पर भी वह थकते नहीं थे। लगता यह था कि वह जितना अधिक परिश्रम कर रहे हैं उतनी ही उनमें फुर्ती आ रही थी। वह देहातो का चक्कर लगाने के बाद फौजों में भी काम कर रहे थे। पर इस काम के सम्बन्ध में जिस प्रकार सावधानी बरतनी चाहिए थी, उस प्रकार बरती नहीं गई। एक बार ऐसा हुआ कि करतारसिंह को पकड़ने के लिए पुलिसवालों ने एक गाँव को घेर लिया। उस समय करतारसिंह गाँव के पास ही कहीं थे। पर पुलिस की खबर लगते ही वह साइकिल से उसी गाँव में आ धमके। पुलिस उन्हें पहचानती नहीं थी इसलिए वह बच गए। यदि वह भागने की कोशिश करते तो पकड़ लिए जाते।

भूलासिंह नाम का एक व्यक्ति था जिस पर क्रान्ति को संगठन करने का भार दिया गया था। पर यह आदमी बेईमान निकला और यह क्रान्तिकारी दल के रुपये-पैसे खा गया। इसी ने खबर दे दी। नतीजा यह हुआ कि अन्त मे करतारसिंह गिरफ्तार हो गए।

एक बहुत बड़ा षड्यंत्र चला जिसमें 61 अभियुक्तों को शामिल किया गया और इस षड्यंत्र के नेता करतारसिंह, भाई परमानन्द, विष्णु गणेश पिंगले, जगतसिंह, हरनामसिंह करार दिए गए। 404 सरकारी गवाह पेश हुए और सफाई की ओर से 228 गवाह पेश हुए। करतारसिंह को मुकदमे का कुछ मालूम नहीं था। वह बढ़-बढ़कर अपनी सारी बातो बताने लगे, यहाँ तक कि मजिस्ट्रेट भी शरमा गया और करतारसिंह से कहा, "आप समझ बूझकर बात करिए। आप जो कुछ कह रहे है उसका नतीजा मृत्युदंड हो सकता है।"

"तब करतारसिंह ने हँसते हुए कहा, 'मुझे मालूम है, आप मुझे फाँसी ही दे सकते हैं और तो कुछ नहीं कर सकते। मै इससे डरता नहीं हूँ।"

1916 के 13 सितम्बर को मुकदमा समाप्त हुआ और फैसला सुना दिया गया। 24 आदमियों को फाँसी की सजा दी गई जिनमे करतासिंह, हरनामसिंह, जगतसिंह, पिंगले आदि थे।

करतारसिंह ने अपने बयान मे यह कहा, "मेरी एकमात्र उच्चाकांक्षा यह है कि मै अपनी मातृभूमि को स्वततन्त्र देखूँ। जो कुछ भी मैने अब तक किया है वह इसी उद्देश्य से किया है। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने कोई भी काम किसी व्यक्ति, जाति, धर्म, या नस्ल के प्रति घृणा के कारण नहीं किया है या अपना व्यक्तिगत हित सिद्ध करने के लिए नहीं किया है। बस मुझे एक ही चाह है— स्वतन्त्रता और यही मेरा एकमात्र स्वप्न है।

जब पिंगले और करतारसिंह को फाँसी की सज़ा दी गई, तो करतारसिंह बहुत खुश हुए और उन्होंने चिल्लाकर न्यायाधीश को बहुत धन्यवाद दिया। विष्णुगणेश पिंगले ने कहा, "बस इतना ही।"

वायसराय की आज्ञा से 24 में से 17 लोगो को फाँसी की सज़ा रद्द कर दी गई केवल 7 को फाँसी की सज़ा रही। जिन लोगों की फाँसी की सज़ा रद्द कर दी गई थी उनमे भाई परमानन्द भी थे। यह फैसला 15 नवम्बर को हुआ। 16 नवम्बर को करतारसिंह तथा 6 फाँसी पाने वालों से यह कहा गया कि वे चाहे तो उच्च अदालत में अपील कर सकते है। पर उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया और उनकी फाँसी की सजा बरकरार रही।

जब करतारसिंह फाँसीघर में बन्द थे तो उनके रिश्तेदार उनसे मिलने आए। बूढ़े दादाजी ने आकर कहा—"बेटा, तुम किसके लिए मर रहे हो? तुम हम लोगों को इस तरह अनाथ छोड़े जा रहे हो?"

इस पर करतारसिंह ने कहा—"ठीक है, लोग मुझे गालियाँ देते है और यह भी आपको नहीं दिखाई पड़ रहा है कि मेरे मरने से किसी को लाभ होगा, पर मरना तो है ही। मैं आपसे एक बात पूछता हूँ दादाजी, फलाने व्यक्ति का क्या हुआ?"

दादाजी बोले—"वह ताऊन से मर गया।"

करतारसिंह ने फिर पूछा—"फलाने व्यक्ति कहाँ हैं?"

दादाजी ने कहा—"वह हैज़े से मर गए।"

इस पर करतारसिंह ने कहा—"तो क्या आप इसीपर गम कर रहे हैं कि मैं ताऊन से नहीं मर रहा, हैज़े से नहीं मर रहा, बिस्तर पर महीनों सड़कर नहीं मरा, क्या उस मौत से यह मौत अच्छी नहीं?"

इस प्रकार करतारसिंह बहुत खुशी के साथ फाँसी पर चढ़ गए और उन्हें इस बात का एक मिनट के लिए भी गम नहीं हुआ कि मैं क्यों मर रहा हूँ या मेरा मरना व्यर्थ गया। वह शहीदों की कहानी पढ़ चुके थे और वह जानते थे कि जब शहीदों के खून से ही स्वतंत्रता का पौधा सींचा जाता है तभी उसमें बाद को चलकर फल लगता है। जिस प्रकार से खुदीराम और कन्हाईलाल बंगाल में सैकड़ों गीतों के विषय बन गए थे और जनता तक उनके त्याग की आवाज़ पहुँची थी उसी प्रकार करतारसिंह सराबा पर भी बहुत किंवदन्तियाँ हैं और बाद को चलकर कवियों ने उनपर कविताएँ लिखीं और उपन्यासकारों ने उपन्यास लिखे इसमें सन्देह नहीं कि क्रांति आन्दोलन ने जिन वीरों को उत्पन्न किया है उनमें करतारसिंह का स्थान बहुत ऊँचा है और जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वह जन्मजात क्रान्तिकारी थे। उनकी आत्मा बेचैन थी। वह किसी तरह अन्याय और पराधीनता को सहने के लिए तैयार नहीं थे। वह इसी बेचैनी के कारण विदेश गए और फिर इसी बेचैनी के कारण विदेश से देश लौटे और फाँसी पा गए।

चिदम्बरम् पिल्ले

जब बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन चला उस समय दक्षिण भारत में भी स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सच्ची बात तो यह है कि आर्थिक अवस्था से स्वयं स्वदेशी आन्दोलन निकला और बंगाल में बंग-भंग होने से उसके साथ वह जुड़ गया।

दक्षिण भारत की समस्या यह थी कि वहाँ एक कम्पनी थी जो समुद्री तट की सारी जहाज़रानी पर अपना कब्ज़ा किए थी। इस कम्पनी का नाम ब्रिटिश इण्डिया नेवीगेशन कम्पनी था। यह कम्पनी बहुत मुनाफा कमाती थी और इसका कमाया हुआ सारा मुनाफा विलायत चला जाता था। चिदम्बरम् पिल्ले एक वकील थे और वह इसके विरुद्ध खड़े हुए। उन्होंने स्वदेशी स्टीम नेवीगेशन कम्पनी नाम से एक कम्पनी खड़ी कर दी। अब ट्यूटीकोरिन के प्रमुख व्यापारी इस कम्पनी के साथ हो गए और लोगों में बड़ा जोश आया कि अब हम एक ऐसा कार्य कर रहे हैं जिससे देश को एक नया रास्ता मिलेगा। इसके पहले ही देशी कपड़ों की मिल कायम हो चुकी थी। बम्बई की शाह लाइन्स नामक एक कम्पनी भी इसी तरह से स्वदेशी कम्पनी के रूप में सामने आई। अब ब्रिटिश कम्पनी के सामने प्रतियोगिता के रूप में इस प्रकार स्वदेशी कम्पनी के आ जाने से ब्रिटिश व्यापारियों को बहुत क्रोध आया क्योंकि उनको बहुत आर्थिक हानि होने लगी। पहले तो ब्रिटिश कम्पनी ने यह कार्यक्रम अपनाया कि किराया घटा दिया और इस तरह से कोशिश की कि नई

कम्पनियों को रास्ते मे निकाल दें। सारे ब्रिटिश अफसर अंग्रेज कम्पनी के साथ थे। ट्यूटीकोरिन के मजिस्ट्रेट मि. वालर तो मानो जातिवाद की प्रतिमूर्ति थे। उन्होंने चुपके से सारे अफसरों को यह गश्ती पत्र लिखा कि आप लोग किसी-न-किसी बहाने से स्वदेशी जहाज़ों को निरुत्साहित करें। कहना न होगा कि इसका बहुत बड़ा असर हुआ और जिले के सारे अँग्रेज तथा उनके नीचे के कर्मचारी स्वदेशी कम्पनी के पीछे पड़ गए।

चिदम्बरम् इससे दबने वाले नहीं थे। उन्होंने यह आन्दोलन तो चला ही रखा था, इसके अलावा यह भी आन्दोलन चला दिया कि स्थानीय अंग्रेजों की मिल कोरल मिल में मज़दूरों का पक्ष लिया जाए बात यह है कि कम्पनी 60 प्रतिशत मुनाफा कर चुकी थी। चिदम्बरम् पिल्ले का यह कहना था कि जब कम्पनी इतना मुनाफा कमा रही है, तो उसे चाहिए कि वह अपने मज़दूरों को ठीक से वेतन दे। जनता की सहानुभूति भी मज़दूरों के साथ थी। चिदम्बरम् पिल्ले तथा उनके साथी सुब्रह्मण्य शिव और पद्मनाभ आयंगर ने भी जनता का साहस कायम रखने में उनकी मदद की। उन तीनों में से सुब्रह्मण्य शिव एक साधू थे और बहुत अच्छे वक्ता थे। इन तीनों नेताओं ने मिलकर ऐसा वातावरण पैदा कर दिया कि मिलवालो को झुकना पड़ा और मज़दूरों के साथ समझौता करना पड़ा। मिलवालों ने समझौता तो कर लिया पर वे चिदम्बरम् पिल्ले को मार्ग से हटाना चाहते थे।

इन्हीं दिनो ट्यूटीकोरिन में एक अंग्रेज अफसर आया जिसका नाम मि. ऐश था। इस अफसर को समझाया गया कि चिदम्बरम् पिल्ले को यदि नहीं दबाया गया तो थोड़े दिनों में यहाँ सरकार ही समाप्त हो जाएगी। चिदम्बरम् पिल्ले यह जान गए थे कि अब उन पर प्रहार होनेवाला है। पर उन्हीं दिनों विपिनचन्द्र पाल रिहा हुए और सारे भारत में इस पर खुशियाँ मनाई गई। इस उपलक्ष्य में विपिनचन्द्र पाल के सम्मान में एक निःशुल्क पाठागार और चिकित्सालय खोले गए। उत्सव होने ही वाला था कि चिदम्बरम् को ऐश की तरफ से एक पत्र मिला कि आप यह उत्सव न करें और किसी भी राजनीतिक कार्य में भाग न लें। उनसे कहा गया कि आप फौरन ट्यूटीकोरिन छोड़कर चले जाएँ। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आप गिरफ्तार कर लिए जाएँगे।

इस पर चिदम्बरम् पिल्ले ने कहला भेजा कि मैं किसी भी हालत में उत्सव रोकना नहीं चाहता। और मै यहाँ से जाऊँगा भी नहीं। इस पर तीनों क्रान्तिकारियों पर ज़मानत की कार्यवाही की गई। चिदम्बरम् पिल्ले ने फिर भी अपना काम जारी रखा। तब जिला मजिस्ट्रेट ने उनको गिरफ्तार कर लिया। तीनों क्रान्तिकारियों से यह पूछा गया कि आप अपने ऊपर लगाए गए अभियोग को मानते हैं या नहीं। इस पर उन्होंने कहा कि हम नहीं मानते। तब उन्हें फिर जेल भेज दिया गया। उन्हें गाड़ी में बैठाकर जयजयकार के साथ जेल पहुँचाया गया। बहुत जोरों से चिदम्बरम् की जय और वन्देमातरम् के नारे लगे।

जब नेता जेल के अन्दर बन्द हो गए तो जनता ने दूसरा रुख ग्रहण किया। 13 मार्च को तिरुनेलिवेल्ली में दंगे शुरू हो गए। दुकानें बन्द रहीं। हड़ताल रही और मज़दूर सड़कों

पर निकल आए। कुछ लोगों ने नगरपालिका के एक सरकारी दफ्तर में एक पुलिस के थाने में आग लगा दी। नगरपालिका के पेट्रोल में आग लगा दी गई। पुलिसवालों ने गोली चलाई और चार आदमी वहीं पर ही शहीद हो गए। जनता बराबर ईंट-पत्थर चलाती रही और इसके फलस्वरूप एक पुलिस का कर्मचारी घायल हो गया। जब चार आन्दोलनकारियों के शहीद होने की बात चारों तरफ फैल गई, तो दंगे शुरू हो गए। पुलिस ने लाठी चार्ज किया और जुलूस पर गोली चलाई गई। अंग्रेजों में इतना भय छा गया कि वे शहर छोड़कर समुद्र में जहाज़ पर रात बिताते रहे।

यह बिल्कुल स्पष्ट था कि सरकार सब तरह से लोगों को दबाने के लिए तैयार थी। भयंकर आतंक फैल गया और अफसरों को दोष देने की बजाय सरकार ने अफसरों का साथ दिया और सारा दोष चिदम्बरम् पिल्ले पर डाल दिया। सौभाग्य से 'हिन्दू' नामक पत्र ने जनता का पक्ष लिया और सच तो यह है कि इन्हीं कारणों से 'हिन्दू' दक्षिण भारत का एक बहुत प्रसिद्ध पत्र हो गया।

चिदम्बरम् पिल्ले तथा उनके साथियों पर मुकद्दमा चला और चिदम्बरम् पिल्ले को दो मदों मे 40 साल की सज़ा दी गई और सुब्रह्मण्य शिव को 10 वर्ष के काले पानी की सज़ा दी गई। कहना न होगा कि इन सज़ाओं का बहुत विरोध हुआ और अन्त तक उच्च अदालत में सुब्रह्मण्य शिव और चिदम्बरम् पिल्ले की सज़ा 6-6 वर्ष कर दी गई। उन दिनों ऐसे मामले में 6 वर्ष की सजा सबसे ऊँची मानी जाती थी और यही उन दोनों क्रान्तिकारियों को दी गई। इस समय दक्षिण भारत में जो दंगे हुए थे वे स्पष्ट रूप से क्रान्तिकारी दंगे थे और उसके नेता चिदम्बरम् पिल्ले और उनके साथी क्रान्तिकारी थे।

चिदम्बरम् भारत-भर में मशहूर हुए, यहाँ तक कि हिन्दी में उनपर गीत बने। काकोरी षड्यंत्र के लोग उस गीत को गाया करते थे। पर अब मुझे वह गीत याद नहीं सिर्फ कानों में गूँज रहा है—ऐ चिदम्बरम्!

बाघा यतीन

यतीन्द्रनाथ नाम से दो बहुत बड़े क्रांतिकारी हुए हैं। एक यतीन्द्रनाथ मुकर्जी और एक यतीन्द्रनाथ दास। यतीन्द्रनाथ दास भगतसिंह के साथी थे और वह राजनीतिक कैदियों की माँगों पर लड़ाई करते हुए 62 दिन अनशन करके 63वें दिन शहीद हो गए थे।

बाघा यतीन बंगाल के क्रांतिकारी इतिहास में एक संगठनकारी के रूप में बहुत बड़ा स्थान रखते हैं। जब बंगाल में वारीन्द्रकुमार घोष के दल को पुलिस ने छिन्न-भिन्न कर दिया और उनके अधिकांश लोगों को काले पानी भेज दिया, प्रधान नेता श्री अरविन्द अध्यात्मवाद में आश्रय लेकर पांडिचेरी में आश्रम बनाकर बैठ गए, तब उस निराशा की घोर कालरात्रि में बाघा यतीन सामने आए और उन्होंने क्रांतिकारी आन्दोलन का संगठन अपने हाथ में लिया। वह संगठनकारी के रूप में बहुत बड़े तो थे ही साथ ही वह अन्त में शहीद भी हो गए। वही कहानी यहाँ हम बता रहे हैं।

बाघा यतीन के पूर्व-पुरुष जैसोर जिला के रहनेवाले थे, जो इस समय बाँगलादेश में हैं। इसी के रिशाखाली नामक गाँव में उनके पूर्व-पुरुष रहते थे। पर उनका जन्म 1879 के 6 दिसम्बर में कृष्ण नगर के पास कया नामक गाँव में हुआ। यहाँ उनका ननिहाल था। उनके पिता का नाम उमेशचन्द्र और माता का नाम सरस्वती देवी था। 5 साल की उम्र

में ही उनके पिता का देहान्त हो गया और कया में ही उनका लालन-पालन हुआ। यतीन्द्रनाथ की माता रामायण-महाभारत की वीरगाथाओं पर पली हुई एक साधारण हिन्दू रमणी थीं और उसी रूप में उन्होंने अपने बेटे का पालन किया था। यतीन बचपन से ही तैरने में पारंगत थे और अपने गाँव के पास गहुई नदी में वह तैरते रहते थे। इसके अलावा उनके मामा के पास एक सफेद टट्टू था, जिसपर वह बराबर सवारी किया करते थे। अकसर वह उस पर बैठकर बहुत दूर निकल जाया करते थे। उनके मामा के पास बन्दूक भी थी, क्योंकि वह नदिया के महाराज के एजेण्ट और सरकारी अनुवादक थे। यतीन इस बन्दूक से शिकार करना सीख चुके थे और साथ ही वह बन्दूक चलाने की कला में भी पटु हो गए थे।

बचपन में उनकी शिक्षा गाँव में ही हुई। आगे कोई अंग्रेजी स्कूल वहाँ न होने के कारण वह कृष्ण नगर में रहकर पढ़ाई करने लगे। पढ़ने में भी वह अच्छे थे और सब शिक्षक उनसे स्नेह करते थे। मामाओं से लेकर शिक्षक तक सब यह चाहते थे कि यतीन पितृहीन होने पर भी पढ़-लिख जाएँ और उनका ठीक से पालन हो।

कृष्ण नगर के स्कूल में कोई व्यायाम की व्यवस्था नहीं थी, पर पास ही कृष्ण नगर कॉलेज में एक अच्छी व्यायामशाला थी। यतीन वहाँ जाकर व्यायाम करना चाहते थे। नियम यह था कि केवल कॉलेज के छात्रों को ही व्यायाम करने दिया जाता था। पर वह तो बचपन से ही व्यायाम करना चाहते थे, नियम कैसे टूट सकता था। इसलिए वह कृष्ण नगर के अंग्रेज अध्यापक डब्ल्यू. विली से मिले और उनसे उन्होंने अपनी टूटी-फूटी अंग्रेजी में बताया कि मैं आपकी व्यायामशाला में व्यायाम करना चाहता हूँ। जब अध्यापक ने यतीन का सुंदर गठा हुआ शरीर देखा और उनकी सरल वाणी सुनी, तो वह उसपर राजी हो गए और कहा कि अगर व्यायाम शिक्षक को कोई एतराज न हो तो मुझे भी कोई एतराज न होगा। उन दिनों वहाँ के व्यायाम शिक्षक थे सुरेन्द्रनाथ बंद्योपाध्याय। वह यतीन की निष्ठा देखकर फौरन यतीन को अपनी व्यायामशाला में लेने के लिए तैयार हो गए। इस प्रकार उनके शरीर और मन, दोनों की शिक्षा एक साथ चलती रही।

कृष्ण नगर में एक वकील थे वाराणसी राय। उन दिनों जिसके पास भी पैसा हो जाता था, वह घोड़ा, बग्घी आदि रखता था। एक दिन ऐसा हुआ कि राय साहब का घोड़ा किसी तरह अस्तबल से भाग खड़ा हुआ और जहाँ-तहाँ लोगों को घायल करता हुआ इधर-उधर भटकता रहा। उस समय यतीन पेंसिल खरीदने के लिए एक दूकान पर खड़े थे। जब उन्होंने देखा कि शोर हो रहा है और भगदड़ पड़ी है और ये देखा कि घोड़ा भाग रहा है और सईस भी पीछे-पीछे भाग रहा है, तो उनसे न रहा गया। ज्योंही वह घोड़ा दूकान के सामने आया त्योंही उन्होंने घोड़े के कंधे पर के बाल पकड़ लिए और उसे वहीं पर रोक लिया।

सब लोग दौड़कर आ गए और बूढ़े लोग यतीन को बुरा-भला कहने लगे कि तुमने अपनी जान व्यर्थ में संकट में डाली, सईस पकड़ लेता। उन्होंने बुजुर्गों की बातों का कोई जवाब नहीं दिया और वह जल्दी से पेंसिल लेकर व्यायामशाला में चले गए।

इसी प्रकार उन्होंने एक दिन देखा कि नदी के घाट के पास एक बुढ़िया घास का एक बोझ लेकर खड़ी है और सबसे यह कह रही है कि यह बोझ मेरे सिर पर छोड़ दो। पर लोग उसकी बात सुनी-अनसुनी कर चले जाते थे। कोई उसके सिर पर बोझ नहीं उठाता था। तब यतीन को दया आई और उन्होंने उससे उठा देना चाहा। पर जब बोझ उठाया तो देखा कि यह बोझ बहुत भारी है। उन्होंने बुढ़िया से पूछा कि भला तुम इस बोझ को कैसे ले जा सकती हो?

तब उन्होंने वह बोझ उठाकर बुढ़िया के साथ चलना शुरू किया और जहाँ बुढ़िया को जाना था वहाँ घास का वह बोझ पहुँचाकर ही दम लिया। इस प्रकार से उनकी शरीर-साधना केवल अपना बल बढ़ाने के लिए नहीं थी, बल्कि वह शरीर से जन-सेवा भी करना चाहते थे।

वह साथ-ही-साथ बहुत सत्यवादी थे और किसी मामले में घबराते भी नहीं थे। एक बार ऐसा हुआ कि गेंद लेकर लड़के खेल रहे थे कि वह गेंद किसी प्रकार जाकर स्कूल की खिड़की के काँच में लगी और वह काँच टूट गया। जब शिक्षक महोदय ने यह देखा तो उन्होंने पूछा कि यह काँच किसने तोड़ा है? असल में, काँच यतीन द्वारा फेंकी गई गेंद से टूटा था। जब शिक्षक महोदय ने बच्चों से पूछा तो किसी ने डर के मारे सच्ची बात नहीं बताई। तब शिक्षक महोदय ने हर बच्चे पर एक रुपया जुर्माना ठोक दिया। अब यतीन से नहीं रहा गया और उन्होंने आगे बढ़ते हुए कहा कि सर, मैंने काँच तोड़ा है। इसपर वही दोषी माने गए और उन्हें प्रधान शिक्षक के पास ले जाया गया। जब प्रधान शिक्षक ने यह देखा कि इस प्रकार यतीन ने सत्य भाषण किया है तो उन्होंने उन्हें माफ कर दिया और कहा कि आगे से तुम कभी इस तरह कक्षा के अंदर या बाहर ऐसे न खेला करो कि गेंद आकर काँच पर लगे।

इस तरह वह बड़े होते रहे। इतने में सुनने में आया कि कया गाँव के पास कहीं बाघ का उपद्रव हो रहा है और वह बाघ कभी गाँववालों की बकरी उठा ले जाता है तो कभी बछड़ा मार देता है। लोगों ने बहुत कोशिश की कि इस बाघ को मार डालें पर सफल नहीं हुए। तब यतीन के एक ममेरे भाई न यह तय किया कि इस बाघ को मारना ही है। वह भाई साहब बन्दूक लेकर आए। जब यतीन को यह बात मालूम हुई तो वह बहुत खुश हुए और वह शिकारी भाई के साथ जाने के लिए तैयार हुए। बन्दूक एक ही थी फिर दो आदमियों के जाने का क्या मतलब होता था। पर यतीन नहीं माने और उन्होंने नेपालियों की एक भुजाली लेकर शिकार के लिए जाना स्वीकार कर लिया। दोपहर के समय वह

टोली निकली। कुछ गाँववाले बाघ को बिदकाने के लिए शंख, घड़ियाल, कनस्तर आदि लेकर चले, और वह जंगल के चारों तरफ घूमते रहे। गाँव वालों ने इसे एक उत्सव का मौका मान लिया और सब लोग बाजे बजाते हुए, नाचते हुए इधर-उधर घूमते रहे। यतीन इस पर बहुत खुश हुए और वह अपने भाई के साथ-साथ चलते रहे।

इस तरह बहुत देर तक चलने के बाद जहाँ पर यतीन खड़े थे, वहीं से एक बहुत बड़ा बाघ निकला और उसे देखते ही शंख, घडियाल बजानेवाले लोग भाग गए। भाई ने बन्दूक चलाई, पर वह मस्तक में न लगकर सिर छूकर चली गई। उससे बाघ और भी भयानक हो गया और उसने यतीन पर आक्रमण कर दिया। यतीन न इस पर प्रत्याक्रमण किया और बाघ का गला बगल में दबाकर उस पर बहुत जोर से अपनी भुजाली मारना शुरू किया। इधर भाई साहब बन्दूक लेकर तैयार हुए, पर यह सोचकर गोली नहीं चलाई कि कहीं यह गोली यतीन को न लग जाए क्योंकि दोनों में भयंकर लड़ाई हो रही थी।

लगभग 10 मिनट तक लड़ाई होने के बाद स्थिति यह हो गई कि बाघ और यतीन, दोनों बहुत बुरी तरह घायल हो गए। यतीन समझ गए कि या तो मैं मरूँगा या यह मरेगा। इसलिए वह बाघ पर पागलों की तरह वार करते रहे और उसे न जाने कितनी जगह से काट डाला। अन्त में दोनों बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। जब भाई साहब दौड़कर आए, तो इस बीच और भी लोग आ गए और देखा गया कि बाघ तो मर चुका है और यतीन अभी मरे नहीं हैं। गाँव के डॉक्टर साहब ने इलाज किया। इसके बाद उन्हें किसी तरह कलकत्ता ले जाया गया और वहीं उनकी चिकित्सा होती रही। वहाँ के सबसे प्रसिद्ध सर्जन सुरेशप्रसाद सर्वाधिकारी पर उनकी चिकित्सा का भार पड़ा। देखा गया कि यतीन के सिर पर कोई 300 घाव हैं और बाघ ने उनकी जाँघों को इस तरह से काटा था कि डॉक्टर साहब ने यह कहा कि शायद दोनों पैर काट डालने पड़ें, तब शायद जान बचे। पर चिकित्सा के कारण वह अच्छे हो गए। फिर भी उन्हें 6 महीने तक बिस्तरे पर लेटे रहना पड़ा और एक साल तक वह चल नहीं पाए। जब अच्छे भी हुए तो बैसाखी की सहायता से चलते थे। कुछ दिनों तक अभ्यास करने के बाद वह फिर पहले की तरह हो गए और इसी से उनका नाम बाघा यतीन पड़ा। कुछ लोगों ने यह कहा कि यतीन बच नहीं सकते थे, पर एक साधु ने उन्हें बचाया पर यह एक कहानी ही है। इसके बाद यतीन अपनी पढ़ाई में बाकायदा लगे रहे और उन्होंने एन्ट्रेंस पास किया। इसके बाद वह सेण्ट्रल कॉलेज में एफ.ए. पढ़ने के लिए तैयार हुए। वहाँ वह एफ. ए. पढ़ने के बाद शीघ्रलिपि और टंकन का काम सीखते रहे। बात यह है कि उन दिनों बहुत थोड़े लोग यह आशा कर सकते थे कि सरकारी नौकरी में जाएँ और अफसर हों। इसलिए अधिकांश लोग यही चेष्टा करते थे कि वह शीघ्रलिपि सीखें और यदि भाग्य अच्छा हो और किसी अफसर की दया हो

गई तो वह आगे बढ़े। वह कुछ महीनों के अन्दर ही शीघ्रलिपि और टंकन कला अच्छी तरह सीख गए और कलकत्ता की गोरी कम्पनी में 50 रुपये महीने पर नौकर हो गए। एक दिन वह पहली बार तनख्वाह लेकर घर जा रहे थे कि किसी मित्र ने कहा कि मेरी माँ की चिकित्सा रुपयों के अभाव के कारण नहीं हो पा रही है, इस पर उन्होंने पूरे 50 रुपये हाथ में थमा दिए। इसके बाद उन्हें मुजफ्फरपुर में 80 रुपये पर एक दूसरी नौकरी मिली और वह कलकत्ता से मुजफ्फरपुर चले गए। वहाँ वह एक बैरिस्टर मि. कैनर्ड के शीघ्रलिपिक थे। पर वहाँ भी वह ज्यादा दिन नहीं रहे और एक प्रतियोगिता में बैठकर वह सन् 1900 में बंगाल सरकार में शीघ्रलिपिक लग गए और उनका वेतन 120 रुपये हो गया। इस नौकरी में वह एक आई.सी.एस. विलर के अधीन सचिवालय में काम करने लगे। मि. विलर राजस्व विभाग के सदस्य थे और वह बहुत प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्हीं के कारण यतीन को राजाओं, महाराजाओं तथा दूसरे बड़े लोगों के जीवन की झाँकियाँ प्राप्त हुईं और उन्हें यह पता लग गया कि भारत के राजा-महाराजा किस तरह एक मामूली आई.सी.एस. अफसर के सामने केंचुए बने रहते हैं।

पर अभी उन तक राजनीतिक चेतना नहीं पहुँची थी। वह अपने काम-से-काम रखते थे और राजनीति की तरफ कोई ध्यान नहीं था। वह बराबर दार्जिलिंग जाते थे। एक बार वह दार्जिलिंग जा रहे थे कि रास्ते में सिलीगुड़ी स्टेशन पर एक बच्चा पानी के लिए रो रहा था। बच्चे का बाप, कहीं ट्रेन छूट न जाए इसलिए पानी लाने से आनाकानी कर रहा था। तब यतीन ने पानी लाकर देना चाहा। वह जल्दी से दौड़कर पानी लेकर गाड़ी पर चढ़ने ही वाले थे कि किसी गोरे से धक्का लगा और उस पर पानी गिर गया। तभी सैनिकों ने यतीन को धक्का दिया। नतीजा यह हुआ कि काँच का गिलास हाथ से छूटकर टूट गया। यह अंग्रेजों की साधारण लीला थी। वह कहीं बैठकर केला खाते तो उसका छिलका किसी भी भारतीय पर दे मारते थे और भारतीय उस पर चुपचाप चल देते थे। पर यतीन के निकट स्वामी विवेकानन्द की वाणी पहुँच चुकी थी, जिसमें उन्होंने कहा था कि यदि कोई एक चाँटा मारे तो तुम 10 चाँटे न मारो तो यह पाप होगा। यतीन ने उन गोरों पर हमला कर दिया। वह घूसेबाजी जानते थे इसलिए उन्होंने तीनों को वहीं गिरा दिया। इस समय तक गाड़ी छूट चुकी थी और वह दार्जिलिंग नहीं जा पाए, बल्कि पुलिसवालों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। साथ ही उन सैनिकों में से एक शायद अस्पताल भी भेजा गया। यतीन सरकारी नौकर होने के कारण जमानत पर छूट गए और उन पर मुकदमा चला। जब बड़े अंग्रेज अफसरों तक यह घटना गई तो उन्होंने पसन्द नहीं किया कि यह मामला अदालत में जाए और इस पर शोर मचे। इसलिए उन्होंने चुपके से मुकदमा वापस कर लिया और साथ ही यतीन को चेतावनी दी तो यतीन ने साफ कह दिया के मैं तो भले आदमी को मारना नहीं चाहता, मैं अपनी सड़क जा रहा था। उन्हीं लोगों ने मुझपर हमला

किया।

कहते हैं कि इस पर विलर साहब उन पर और भी मेहरबान हो गए। इस तरह कई घटनाएँ हुईं जिनमें यतीन को अपने साहस का परिचय देना पड़ा। धीरे-धीरे उनके कानों में राजनीतिक घटनाओं की भनक भी आ रही थी और उन्हें पता लग रहा था कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए क्या हो रहा है। खुदीराम और प्रफुल्ल चाकी के बलिदान की कहानी उन तक पहुँच चुकी थी और उन पर यह प्रभाव पड़ रहा था कि केवल सरकारी नौकरी करने से और गृहस्थी का जीवन व्यतीत करने से ही काम नहीं चलेगा। इस बीच सन् 1900 के अप्रैल में इन्दुबाला से उनकी शादी भी हो चुकी थी।

1903 में प्रसिद्ध देशभक्त लेखक योगेन्द्र विद्याभूषण के घर पर यतीन श्री अरविन्द घोष से मिले। बहुत कम लोगों को मालूम है और यह बात छिपाई जाती है कि अरविन्द एक क्रांतिकारी नेता के रूप में सामने आए थे और उन्होंने अपने भाई वारीन्द्र को क्रान्तिकारी मार्ग की दीक्षा दी थी। घटनाचक्र ऐसा हुआ कि अरविन्द को सजा नहीं हुई और वारीन्द्र को सजा हो गई। वारीन्द्र के बहुत-से साथी पकड़े गए और उस समय ऐसा लगा कि क्रान्तिकारी आन्दोलन हमेशा के लिए समाप्त हो गया। श्री अरविन्द इसी वातावरण में छूटे और वह भागकर पांडिचेरी पहुँच गए। पर जिस समय वह यतीन्द्र से मिले थे उस समय वह क्रांतिकारी नेता थे और यतीन्द्र ने उनकी सहायता करनी चाही और यह तय हुआ कि यतीन आगे से क्रान्तिकारी कार्य करेंगे। वह अलीपुर-षड्यन्त्र से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध थे पर पुलिस को उनके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला।

जब वारीन्द्रकुमार गिरफ्तार हो गए तो यतीन ने क्रांतिकारी दल की बागडोर अपने हाथ में ले ली। उन दिनों नदिया जिले के रायटा और हलुदवाड़ी गाँव में दो डकैतियाँ हुई थीं। पुलिस चेष्टा कर रही थी कि ऐसे लोगों को गिरफ्तार किया जाए जो किसी भी तरह क्रांतिकारियों से सम्बन्ध रखते हों। पर यतीन्द्र का पता अभी पुलिस को नहीं लगा था।

1909 की 23 अप्रैल को डायमण्ड हार्बर के पास नेत्रा गाँव में रामतारन मित्र के घर में एक डकैती हुई। इस डकैती के साथ भट्टाचार्य जो बाद को एम.एन. राय नाम से मशहूर हुए, सम्बद्ध थे। इस मुकदमे की जाँच के उपलक्ष में पुलिस को और भी बहुत-सी बातों का पता लगा। इसमें बहुत-से क्रांतिकारी थे जो बाद को चलकर सामने आए।

आशुतोष विश्वास अलीपुर-षड्यन्त्र के सरकारी वकील थे। उन्हें अदालत के बाहर 1909 की 17 फरवरी को मार डाला गया। उनको फाँसी की सजा दी गई। इसी प्रकार 1910 की 9 जनवरी को शम्सुलअली नामक व्यक्ति की हत्या कर दी गई जो सरकार की ओर से इस मुकदमें की पैरवी कर रहा था। वीरेन्द्रनाथ गुप्त नामक एक 18 साल

के युवक ने उसे गोली मारी थी। वीरेन्द्र चाहता तो भाग निकलता पर वह इतना उत्तेजित हो गया कि वह सड़क पर निकलकर भी गोलियाँ चलाता रहा। तब चपरासियों तथा सैनिकों ने उसे पकड़ लिया। जब वीरेन्द्र के घर पर तलाशी ली गई तो उनके घर पर कुछ कागजात मिले और अब पता लग गया कि बाघा यतीन इन सब मामलों के पीछे हैं। तब पुलिस ने तलाशी में एक ऐसा कागज प्राप्त किया जिससे कुछ षड्यन्त्र की भनक आती थी। वीरेन्द्र हवालात में रहते समय कुछ बयान दे चुका था। उसीके फलस्वरूप और भी गिरफ्तारियाँ हुईं। अब तक यतीन सरकारी नौकर थे। 1910 की 20 जनवरी को यतीन गिरफ्तार हो गए और तब उन्हें बहुत सताया गया और कोशिश की गई कि वह कोई भी बयान दें। पर यतीन ने किसी प्रकार भी मौन नहीं तोड़ा। उनपर जो मुकद्दमा चला वह हावड़ा-षड्यन्त्र मुकद्दमा कहलाया। पर यतीन के विरुद्ध कोई भी मुकद्दमा नहीं साबित हुआ। क्रांतिकारी न केवल हत्याएँ और डकैतियाँ कर रहे थे, बल्कि वे सरकारी सेना में जाकर उन्हें भी अपने साथ मिलाने की कोशिश कर रहे थे। कहा जाता है कि सरकार को जो प्रमाण मिले थे, उनसे पूरा पता तो नहीं लगा, फिर भी 10 नम्बर जाट रेजीमेण्ट को समाप्त कर दिया गया।

बहुत मजेदार घटना यह हुई कि यतीन के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला और 1911 के अप्रैल में अदालत ने उन्हें छोड़ दिया। यतीन अब यह दिखाना चाहते थे कि मुझसे और क्रांतिकारियों से कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए वह कलकत्ता छोड़कर जैसोर चले गए और वहाँ वह अपने परिवार में इस प्रकार से रहने लगे मानो उनका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। यतीन फिर भी चुप नहीं बैठे रहे और वह घटनाओं को देखते रहे और जब लड़ाई छिड़ी तो उन्होंने सोचा कि अब हमें फिर से क्रांतिकारी आन्दोलन में कूद पड़ना चाहिए और तदनुसार वह फिर कार्य करने के लिए तैयार हुए।

क्रांतिकारियों की एक महत्त्वपूर्ण सभा हुई जिसमें नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य (बाद को एम एन. राय नाम विश्वविख्यात), अमरेन्द्र चट्टोपाध्याय, नरेन्द्र सेन, मतिलाल राय आदि क्रांतिकारी उपस्थित थे। इस बैठक में यह तय हुआ कि बंगाल में फौरन 10,000 जवान तैयार किए जाएँ जो मरने-मारने के लिए तैयार हों और 1 हजार बम चन्दन नगर में तैयार किए जाएँ। इसके अलावा यह भी तय हुआ कि समय-समय पर डकैतियाँ आदि करके क्रांतिकारी दल के लिए पैसे एकत्र किए जाएँ।

क्रांतिकारी दल का एक सदस्य शिरीषचन्द्र एक कम्पनी में नौकर था। यह कम्पनी अस्त्र-शस्त्र बेचती थी। इन्हीं दिनों एक जहाज़ पर कम्पनी का कुछ माल आया। यह माल इतना अधिक था कि 7 बैलगाड़ियों पर उन्हें रखा गया। इन बक्सों में 201 में गोलियाँ और 1 बक्स में माउज़र पिस्तौलें थीं। शिरीष ने यह माल जहाज़ से ले लिया, पर उन्हें

कम्पनी के दफ्तर में पहुँचाने के बजाय क्रांतिकारियों के हाथ में दे दिया और वह स्वयं फरार हो गया। इस प्रकार क्रांतिकारियों के हाथ 50 माउजर पिस्तौलें और 40 हजार गोलियाँ लगीं। ये पिस्तौलें 300 बोर की थीं। ये पिस्तौलें इस प्रकार से बनी हुई थीं कि इनके बक्सों को पीछे से जोड़कर कुन्दे बना लिए जा सकते थे और उनसे रायफलों का काम लिया जा सकता था। उस हालत में वह 1000 गज़ तक वार करती थीं।

इसके अलावा क्रांतिकारियों ने 1915 में गार्डन रीच और बेलिया घाटा में डकैती कीं और उनके हाथ लगभग 40,000 रुपये आए। गार्डन रीच डकैती 1915 की 12 फरवरी को हुई थी। बर्ड कम्पनी के कर्मचारी 18,000 रुपये लेकर वेतन देने के लिए आ रहे थे इतने में एम.एन. राय तथा दूसरे 8 क्रांतिकारियों ने मिलकर एक टैक्सी की सहायता से उस गाड़ी को रोक लिया और वह थैलियाँ लूट लीं। टैक्सीवाले ने गाड़ी चलाने से इनकार किया तब उसे टैक्सी से उतार दिया गया और क्रांतिकारी पतितपावन घोष ने गाड़ी चलाई।

22 फरवरी को बेलिया घाटा के चावलपट्टी रोड पर एक बंगाली पूँजीपति की दूकान पर डकैती की गई और वहाँ से क्रांतिकारियों के हाथ 22 हजार रुपये लगे। जब क्रांतिकारी बेलिया घाटा से टैक्सी पर लौटना चाहते थे तो इस पर भी उस टैक्सीवाले ने गाड़ी चलाने से इनकार किया और वह लड़ने लगा। इस पर क्रांतिकारियों ने उसे गोली मार दी और पतितपावन घोष ने फिर गाड़ी चलाई। 9 दिनों के अन्दर इस प्रकार दो भयंकर डकैतियाँ हो जाने के कारण पुलिस बहुत परेशान हुई और पुलिस के कर्मचारी सुरेश मुखर्जी ने कुछ क्रांतिकारियों को पकड़ लिया। यतीन के ही नेतृत्व में यह सारा काम हो रहा था। यद्यपि वह स्वयं कहीं जाते थे और कहीं नहीं जाते थे।

इन्हीं दिनों एक घटना यह हुई कि 1915 की 24 फरवरी को यानी बेलिया घाटा डकैती के दो दिन बाद यतीन और चित्तप्रिय एक मकान में बैठकर पिस्तौलें साफ कर रहे थे कि एकाएक पुलिस का एक आदमी नीरद हालदार घुस आया और उसने जो सामने यतीन को देखा तो कहा—"अरे यतीन बाबू, आप यहाँ।"

क्रांतिकारियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ और यतीन ने प्रिय से कहा—शूट हिम। इसे मारो। चित्तप्रिय के पास तमंचा था ही, उन्होंने फौरन घोड़ा दबाया और नीरद वहीं पर गिर पड़ा। अब लाश कैसे हटाई जाए आदि समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए क्रांतिकारी वहाँ से फौरन भाग खड़े हुए पर नीरद मरा नहीं था। वह बुरी तरह घायल हुआ था। वह किसी तरह रेंग-रेंगकर बाहर पहुँचा और उसने पुलिस को मरते समय यह बयान दे दिया कि यतीन और प्रिय ने ही मुझे मारा है। नीरद बयान देकर मर गया।

जब पुलिस को ये सारी बातें मालूम हुईं तो यतीन और चित्तप्रिय का हुलिया निकाल

दिया गया और उनकी गिरफ्तारी के लिए पुरस्कार की घोषणा हुई। यों भी यतीन के लिए कलकत्ता में रहना बहुत मुश्किल हो रहा था, पर अब और भी मुश्किल हो गया। पहले ही एम. एन. राय, पतितपावन घोष आदि गिरफ्तार हो चुके थे और क्रांतिकारी दल को इनसे बहुत हानि पहुँची थी। बाद को चलकर बंगाल के मन्त्री होनेवाले श्री भूपति मजूमदार ने यह लिखा है कि मित्र नरेन भट्टाचार्य यानी एम. एन. राय एकाएक पुलिस की गिरफ्त में आ गए। वह हिन्दू-जर्मन षड्यन्त्र से प्रधान सम्पर्क रखनेवाले व्यक्ति थे। इस पर चारों तरफ निराशा फैल गई। यतीन दादा ने हम लोगों से बुलाकर कहा—"अरे मेरा दाहिना हाथ टूट गया। इसलिए उसे टूटने नहीं देना चाहिए। हमें एम. एन. राय को तो छुड़ाना ही है। आज जब संध्या समय उन्हें लाल बाजार ले जाया जाए, तब गाड़ी पर कब्जा करके उन्हें छुड़ा लेना पड़ेगा।" उस दिन यतीन दादा के आदेश पर हम जेल की गाड़ी तोड़ने के लिए निकल पड़े थे और हममें बहुत उत्साह था। सब लोग पुलिसवालों के साथ ताकत की परीक्षा करने के लिए तैयार थे। पर दुर्भाग्य यह था कि उस दिन एम. एन. राय को दूसरे दिनों की तरह लाल बाजार नहीं लाया गया। उन्हें सीधे जेल भेज दिया गया। इसलिए हम निराश होकर लौट पड़े। पर दादा इससे कुछ असन्तुष्ट नहीं हुए। वह बोले—"जो कुछ भी हो, तुम लोग गए तो थे। यही मेरे लिए गौरव की बात है।"

यतीन जीवन को इसी रूप में लेते थे। वह प्रयास और प्रयत्न को महत्त्व देते थे। वह यह नहीं समझते थे कि सफलता ही सब कुछ है।

यतीन ने एम. एन. राय को छुड़ाने के लिए और भी चेष्टा की, पर सौभाग्य ऐसा हुआ कि एम. एन. राय जमानत पर छूट गए थे। इसलिए दल ने यह तय किया कि एम. एन. राय को जमानत पर रहते समय भगा दिया जाए। जितने की जमानत हुई उतनी रकम जमानती को दे दी गई और नरेन्द्र भट्टाचार्य चोरी से भारत से निकल गए और उन्होंने बाहर जाकर पहले चार्ल्स मार्टिन नाम ग्रहण किया। वह किस प्रकार बाहर गए और किस-किस तरह जर्मनों के साथ षड्यन्त्र करके भारत में अस्त्र भेजने की चेष्टा करते रहे यह एक लम्बी कहानी है। पर वह उसमें विशेष सफल नहीं हुए।

कुछ भी हो, खबर यह आई थी कि जर्मनी से जहाज आएँगे और उन जहाजों के जरिये से क्रांतिकारियों को बहुत बड़े परिमाण में अस्त्र मिलेंगे। असल में क्रांतिकारी यह समझ चुके थे कि प्रश्न व्यक्तियों का नहीं है, बल्कि अस्त्रों का है। यदि काफी तादाद में अस्त्र मिल जाएँ तो यह सम्भव था कि क्रांतिकारी मिल जाते और लोग क्रांतिकारी हो जाते— अवश्य सधे हुए तपस्वी किस्म के क्रांतिकारी जो किसी प्रकार के गुट के सामने भी सिर नीचा नहीं करते। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी और उन्हें बहुत प्रशिक्षण भी देना पड़ता था। पर एक दिन के लिए क्रांतिकारी या 10 दिन के लिए क्रांतिकारी होना

यह कोई बड़ी बात नहीं है। इसलिए क्रांतिकारी इस बात पर ज्यादा जोर देते थे कि बाहर से हमें अस्त्र मिलें। इसी उद्देश्य से कुछ जहाज चले भी, जैसे मौवेरिक, पर उसे एक डच जहाज ने गिरफ्तार कर लिया। बाकी कई जहाज भी गिरफ्तार कर लिए गए थे। एक इसी प्रकार के जहाज में हेरम्ब गुप्त नामक क्रांतिकारी थे। वह गिरफ्तार कर लिए गए। उन पर शिकागो में मुकद्दमा चला और उनको सजा दी गई।

जब इस प्रकार अस्त्र मिलने की सम्भावना थी तब यतीन मुखर्जी तथा अन्य क्रांतिकारियों ने यह तय किया कि हमें कलकत्ता के बाहर रहना चाहिए । चन्द्रशेखर आजाद की तरह यतीन का भी यह कौल था कि मैं कभी अपने को बिल्ली की तरह पकड़ में नहीं आने दूँगा। वह इसी की तैयारी कर रहे थे। भूपति मजूमदार ने बाद को लिखा कि हम लोग अभी आसाम से लौटे थे कि दादा ने हुक्म दिया कि साथ चलना पड़ेगा। तब दादा बगनान स्कूल के हैडमास्टर अतुल चन्द्रसेन के अतिथि थे। हम लोग यानी स्वर्गीय फणीन्द्र चक्रवर्ती और एक साहब कलकत्ता से दूसरे दर्जे का टिकट लेकर तीन साइकिलों के साथ हावड़ा पहुँचे। बीच में एक स्टेशन से यतीन दादा और नरेन्द्र भट्टाचार्य यानी एम. एन. राय हमारी गाड़ी में आए। हम लोग बालेश्वर जा रहे थे। अगले स्टेशन पर दो गोरे सवार हुए। उन्होंने आकर यह जिद की कि जहाँ दादा और एम. एन बैठे थे, वे वहीं बैठेंगे। जब उन्होंने उन्हें जगह देने से इनकार किया, तो वे गालियाँ देने और लड़ने पर तैयार हो गए। हम पाँचों के पास पिस्तौलें थीं। यतीन दादा समझ गए कि हम क्या सोच रहे हैं, इसलिए उन्होंने परिस्थिति समझते हुए कहा—चुपचाप बैठे रहो। फिर उन्होंने टूटी-फूटी हिन्दी में कहा—"हजूर, आप गुस्सा क्यों करते हैं। आपको हम बैठने के लिए जरूर जगह देंगे। हम ठहरे काले आदमी। हम लोग एक-दूसरे से सटकर बैठ सकते हैं।"

कहकर उन्होंने अपना स्थान छोड़ दिया। फिर कोई बात नहीं हुई और वे गोरे खड़गपुर में उतर गए। यतीन दादा ने हँसकर कहा—"तुम लोग उनकी गालियाँ खाकर नाराज हो गए थे। मैं इनमें से दो को एक साथ गाड़ी से नीचे फेंक सकता था। लेकिन हम जिस उद्देश्य से अपने को छिपाकर जा रहे है वह उद्देश्य इस बेवकूफी से खत्म हो जाता। यदि तुममें आत्मसंयम नहीं है, तो तुम्हारे लिए क्रांतिकारी मार्ग नहीं है।"

इस प्रकार क्रांतिकारी बालेश्वर पहुँच गए और वहाँ वे बंगाल की खाडी के पास एक गहरे जंगल में घुस गए। बालेश्वर से लगभग 20 मील दूरी पर कोप्ती पोदा नामक एक गाँव में रहने लगे। इस गाँव में यतीन्द्र, नरेन्द्र और मनोरंजन तथा इससे 12 मील दूर एक गाँव में चित्तप्रिय और ज्योतिष रहते थे। थोड़े ही दिनों में उन्हें ऐसा सन्देह हुआ कि पुलिस उनकी बात जान गई है, इसलिए वह वहाँ से रवाना हो गए। पर ज्योतिष पाल बीमार थे, इस कारण उनको बिना लिए चलना भी कठिन था। पुलिसवालों को यह खबर

मिली कि यतीन इस प्रकार छिपे हुए हैं। पर यतीन कहीं से निकल जाते थे, तब पुलिस वाले पहुँचते थे। वह अपने साथियों के साथ बिना खाए-पिए और बिना सोए बूढ़ी बालम नदी के किनारे गोविन्दपुर नामक एक स्थान पर पहुँचे। वहाँ देखा गया कि वर्षा के कारण नदी इतनी उमड़ी हुई है कि उसे पार करना मुश्किल है इसलिए उन्होंने सानी साहू नामक एक उड़िया मल्लाह से कहा कि तुम हमें पार कर दो। पर वह बोला—"हम इतने लोगों को अपनी छोटी नाव में पार नहीं कर सकते।"

यह कहकर उसने क्रांतिकारियों को बताया कि कहाँ पर उन्हें बड़ी नाव मिल सकती है। जब यतीन उसकी बात सुनकर वहाँ पहुँचे, जहाँ का उनको निर्देश दिया गया था तो उन्होंने जाकर देखा कि वहाँ कोई भी मल्लाह नहीं हैं। हाँ, एक मछुआ बैठकर मछली पकड़ रहा था। तब यतीन्द्रनाथ ने देखा कि परिस्थिति बड़ी विकट है। हमें पार तो हो ही जाना चाहिए इसलिए उन्होंने उस मछुए को पैसे दिए और उसने इन लोगों को नदी के पार कर दिया पर उस मछुए ने यह सुना था कि सरकारी एलान यह है कि कोई अपरिचित व्यक्ति मिले, तो उसकी इत्तला पुलिस को दी जाए। उसने फौरन जाकर चौकीदार को खबर दी। उधर यतीन आगे बढ़ रहे थे। कोई रास्ते में मिला तो उसने पूछा कि "आप लोग कहाँ जा रहे हैं।" इस पर क्रांतिकारियों ने बताया कि हम "बालेश्वर स्टेशन जा रहे हैं।" पर देखा गया कि वह स्टेशन न जाकर दूसरी तरफ जा रहे थे। मछुए ने यह सुन रखा था कि चारों तरफ जर्मन घूम रहे है और उनकी खबर पुलिस को पहुँचाना है। मछुए ने कभी जर्मन नहीं देखे थे और न उसे यह पता था कि जर्मन भी अंग्रेजों की तरह गोरे ही होते है, इसलिए उसने जाकर यह खबर दी थी कि 5 जर्मन जंगल के अंदर घुसे हैं। इसके अलावा उसने यह अफवाह भी लोगों में फैला दी कि जर्मन इधर को गए हैं। गाँव वालों में यह कौतूहल हुआ कि भला जिन जर्मनों के विषय में इतना पढ़ रहे हैं, वह देखने में कैसे हैं, इसलिए भोले-भाले गाँववाले और चौकीदार, दफादार आदि सभी उसी तरफ दौड़ पड़े जिधर क्रांतिकारी गए थे।

कहना न होगा कि यह परिस्थिति भागते हुए क्रांतिकारियों के लिए बहुत ही खतरनाक हो गई। वह दोपहर के समय दामुद्रा गाँव में पहुँचे। गाँववाले अब भी उनका पीछा कर रहे थे। इस पर उन्होंने हवा में कुछ गोलियाँ चलाईं। पर जनता भी इस बुरी तरह पीछे पड़ गई थी कि जब गोलियाँ चलाई जातीं तो वे भाग जाते और कभी तो वे चोर हैं. कहकर चिल्लाते थे और कभी वे और तरह से उनको परेशान करते थे। क्रांतिकारियों के लिए एक अजीब परिस्थिति थी। जब क्रांतिकारियों ने यह देखा कि ये लोग ऐसे नहीं मानेंगे तब उन्होंने सचमुच पीछा करते हुए लोगों और पुलिसवालों पर गोलियाँ चलाई जिससे राजमहन्ती नाम का एक व्यक्ति मारा गया और सूदन गिरी नाम

का एक दूसरा व्यक्ति घायल हो गया। अबकी बार जनता ने पीछा करना छोड़ दिया। पर पुलिसवाले भला पीछा करना क्यों छोड़ते। इस बीच चारों तरफ खबर भेज दी गई थी। मयूरगंज का रास्ता पार करके वे एक छोटी नदी के पास पहुँचे। उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र अपने-अपने सिरों पर बाँध लिए और वे तैरकर नदी पार होकर चस्कन्द नामक एक गाँव मे पहुँच गए और इसके बाद वह और भी गहरे जंगलों में पहुंच गए। उन्हें ऐसा लगा कि इस जंगल में उन पर कोई मुसीबत नहीं आ सकती।

उधर राजमहन्ती और सूदनगिरीवाली खबर थाने में पहुँच चुकी थी। पुलिसवाले तो पहले ही से तैयार थे। कलकत्ता से भी पुलिस के लोग आए थे। मजिस्ट्रेट किलबी पुलिस की गारद, टैगर्ट, बर्ड आदि कितने ही लोग वहाँ पर उपस्थित थे। उन लोगों ने वहाँ यह तय किया कि दो तरफ से क्रांतिकारियों को घेरा जाए। एक टुकड़ी मयूरगंज की तरफ चली और दूसरी मदनपुर की तरफ चली और इस प्रकार जंगल घेर लिया गया। पुलिसवाले बराबर बीच-बीच में गोलियाँ चलाते जाते थे ताकि क्रांतिकारियों को घेरने में आसानी हो। एक तरफ तो भूख और अनिद्रा से पीड़ित 5 क्रांतिकारी थे जिनके पास बहुत थोड़ी मात्रा में शस्त्र थे और दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार का बल, पुलिस थी, जिसका साथ सारे गाँववाले भी दे रहे थे। गाँववाले भला क्या जानते थे कि यह कौन है। कुछ लोग तो उन्हें जर्मन समझ रहे थे और कुछ लोग उन्हें मामूली अपराधी समझ रहे थे। इसके अलावा सभी लोग यह भी समझ रहे थे कि ऐसे लोगों को गिरफ्तार करने से हमें पुरस्कार मिल सकता है। 100 से ऊपर रायफल से सुसज्जित घुड़सवार पुलिस टुकड़ी थी और वे चारों तरफ से सैनिक ढंग से उनको घेरने की कोशिश कर रही थी। जब क्रांतिकारियों ने समझ लिया कि अब बिना लड़े छुट्टी नहीं है, हम किसी भी हालत में भाग नहीं सकते तो उन्होंने भी गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं। पर वे रुक-रुककर ही गोलियाँ चला सकते थे, क्योंकि उनके पास गोलियों का भण्डार बहुत कम था।

कई घण्टों तक घमासान लड़ाई चलती रही। दोनों तरफ से बराबर गोलियाँ छूटती रहीं। अकस्मात् ही ऐसा हुआ कि पुलिस की एक गोली आकर चित्तप्रिय को लगी और वह वहीं पर बहुत बुरी तरह घायल होकर गिर पड़े। पुलिसवालों ने शायद यह देख लिया। इसलिए उन्होंने गोलियाँ चलाना और भी तेज कर दिया। वे किसी को देखकर ही गोली चला रहे थे ऐसी बात नहीं थी। बराबर बिना देखे ही जिधर भी शक होता उधर गोलियाँ चला रहे थे। चित्तप्रिय को बहुत खून जा रहा था। यतीन ने इस समय अपने साथी को सहारा देने के लिए आगे बढ़कर उसे अपनी गोद में उठा लिया। पर ऐसे समय एक गोली आकर उनके पेट में लगी। यों तो इससे पहले भी उन्हें चोट आई थी, पर अबकी बार वह घायल होकर गिर पड़े। सभी क्रांतिकारियों को थोड़ी-बहुत चोट लगी थी। जब

यतीन खूब समझ गए कि अब मैं मर रहा हूँ तो उन्होंने सोचा कि बाकी युवकों को मरवाने का कोई मतलब नहीं होता। इसलिए उन्होंने यह आदेश दिया कि सफेद चादर उड़ाकर शान्ति की घोषणा की जाए। चित्तप्रिय तब तक शहीद हो चुके थे। यतीन बहुत बुरी तरह घायल थे और उनके बचने की कोई आशा नहीं थी। वह पानी माँग रहे थे। तब क्रांतिकारी मनोरंजन पास की नदी में जाकर चादर भिगोकर उन्हें पानी पिलाने की चेष्टा करने लगे। इस बीच पुलिस दल-बल सहित आ गई थी। मजिस्ट्रेट मि. किलबी यतीन के पास आए। तब यतीन बोले—"आप कुछ बुरा न मानिए, हम लोग यह नहीं जानते थे कि आप आए हैं। हम लोगों को कोई शिकायत नहीं है।"

मजिस्ट्रेट यह सुनकर खुश हुए। फौरन चित्तप्रिय, यतीश, यतीन के लिए तीन खाटें लाई गईं। मनोरंजन और नरेन्द्र पैदल ही चले। इस समय यतीन ने उपस्थित गोरों से कहा—"कृपया यह देखिए कि इन दो बालकों के साथ कोई अन्याय न हो। सारी जिम्मेदारी मै अपने ऊपर ही लेता हूँ। मै ही जिम्मेदार हूँ।"

यतीन का साहस देखकर पुलिसवाले और गोरे अफसर बहुत प्रभावित हुए। उनको और यतीश को अस्पताल भेजा गया। अगले दिन यतीन अस्पताल में ही शहीद हो गए।

जो लोग बचे हुए थे यानी नरेन्द्र ओर मनोरंजन को फाँसी की सज़ा दी गई और यतीश को आजन्म काले पानी की सज़ा दी गई। जज का नाम था मैकफर्सन। दो भारतीय इस ट्रिव्यूनल के सदस्य थे और तीनों की राय से यह सज़ा हुई थी। यतीन इस प्रकार अज्ञात रूप से मर गए। वे जन्मस्थान से दूर अजनबियों में मरे। यहाँ तक कि उनकी पत्नी इन्दुबाला देवी को भी शक रहा कि वह शायद जिन्दा हैं। 12 वर्ष तक वह मामूली सधवा की तरह रहीं, बाद को उन्होंने हिन्दू शास्त्र के अनुसार कुश की प्रतिमा बनाकर उसे जलाने के बाद फिर विधवा का रूप धारण किया। इस महावीर के संबंध में क्रांतिकारियों के सबसे बड़े दुश्मन सर चार्ल्स टैगर्ट ने जो आयरलैण्ड के क्रांतिकारियों के विरुद्ध कार्य कर चुके थे और अब भारत मे कार्य कर रहे थे, यह कहा—"मुझे अपना कर्तव्य करना पड़ा पर मुझे उनके संबंध में बहुत प्रेम की भावना है। वह एकमात्र बंगाली है जो ट्रेंच से लड़ते हुए मारे गए थे।"

बाद को यतीन की त्याग की कहानी का पता लगा तो सबने उनके साहस की प्रशंसा की और इसमे सन्देह नहीं कि एक महान सगठनकर्ता होने के अतिरिक्त उन्होंने अपनी कुरबानी भी कर दी। उन्होंने जो त्याग किया उसपर बंगाल में बहुत बड़ा साहित्य बना और इस समय उनकी कई जीवनियाँ मौजूद है। इसके अतिरिक्त कवियों और लेखकों ने भी उनकी सराहना की। क्रांतिकारी आन्दोलन के इतिहास में उनका स्थान संगठनकर्ता के रूप में रासबिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ सान्याल, चन्द्रशेखर आजाद, सूर्यसेन आदि के साथ लेने योग्य है।

मणीन्द्रनाथ बनर्जी

काकोरी षडयत्र समाप्त हो गया और लोगो को फाँसियाँ हुई, तब मणीन्द्रनाथ के हृदय को उससे भारी धक्का लगा। उस समय एक प्रकार से कोई नियमित दल नहीं था। जो नेता बनकर बैठे हुए थे, वे जान बचाना चाहते थे। इसलिए जब मणीन्द्र ने उन लोगो से कहा कि इन अन्यायो का प्रतिवाद किया जाना चाहिए, तब उन्होंने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। मणीन्द्र को कहीं से एक पिस्तौल मिल गई। उसमे केवल दो कारतूसें थी, अधिक मिलने की कोई आशा नहीं थी, किन्तु उनके दिल में तो क्रान्ति की आग जल रही थी। वह अपनी धुन मे घूमने लगे। सन् 1928 के जनवरी मास मे उन्होंने एक डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट पर हमला कर दिया और दोनो गोलियों का भली भाँति उपयोग कर वहीं गिरफ्तार हो गए। उसके बाद जेल मे उनको अनेक प्रकार की यन्त्रणाएँ दी गई, किन्तु उससे क्या होता था। अन्त मे उसे दस वर्ष की सजा हुई। थोड़े दिन बनारस मे रहने के बाद उन्हें फतेहगढ़ सेण्ट्रल जेल भेजा गया, वहीं पर वे शहीद हुए।

सन् 1934 के मई मास के प्रथम सप्ताह मे हम तीन व्यक्ति 'बी' क्लास वार्ड मे एक साथ रहते थे। अर्थात् श्री मणीन्द्रनाथ बनर्जी, श्री यशपाल और मै। हमें एकाएक खबर मिली कि इसी जेल के 'सी' क्लास के राजनीतिक कैदी चन्द्रमासिंह उर्फ चन्द्रभानसिंह का बिना किसी कारण-मारा-पीटा गया है और वह इसके प्रतिवादस्वरूप अनशन कर रहे

है। जेल मैन्युअल में कैदियों को मारना निषिद्ध है, अवश्य यदि निषिद्ध न होता तो वह न्यायपूर्ण हो जाता, यह बात नहीं है, इसलिए हम लोग लड़का-चक्कर के राजनीतिक कैदियों ने यह निश्चय किया कि कुछ दिन देखकर उसकी सहानुभूति मे हम लोग भी अनशन करें दें। उन दिनों लड़का-चक्कर में छ· राजनीतिक कैदी थे, चार 'बी' श्रेणी में और दो 'सी' श्रेणी मे। 'बी' श्रेणी में मणीन्द्र बनर्जी, यशपाल, रणधीर सिंह तथा मै था, और 'सी' श्रेणी मे रेवतीरमण तथा रमेशचन्द्र गुप्त थे। हम लोगों ने अभी यह निश्चित नहीं किया था कि किस दिन से अनशन करेंगे। इतने मे हमारे ऊपर एक और वज्रपात हुआ। अकस्मात् एक दिन मेजर भण्डारी आए और मेरे मित्र कानपुर-वीरभद्र गोलीकाड के श्री रमेशचन्द्र गुप्त की पेशी माँग ली। पेशी में उनको चौदह दिन की बेड़ी तथा चक्की दी गई। इसके अतिरिक्त उनको लड़का-चक्कर से हटाकर दुवाड़ा चक्कर मे भेज दिया। यह सम्भवत मई की बात है।

इसके बाद हम लोगो ने अधिक चुप रहना अपनी आत्म-मर्यादा के लिए हानिकर समझा। अत थोड़ा परामर्श करने के अनन्तर यह निश्चित हुआ कि 14 मई से इस जेल के सभी राजनीतिक कैदी अनशन कर दे।

चन्द्रभानसिंह पर मारपीट तथा रमेशचन्द्र को अनुचित रूप से सजा देना यद्यपि हमारे अनशन का तात्कालिक कारण अर्थात् प्रधान उत्तेजक कारण था, पर और भी बहुत-से कारण थे। उनमे प्रधान कारण 'सी' श्रेणी के क्रान्तिकारी कैदियो पर जेल मैन्युअल की दफा 28 प्रयुक्त करके उनको दिन-रात कोठरी मे बन्द रखना था। सच बात कही जाए तो दफा 28 कोई कानून ही नहीं है। कानून की दृष्टि मे इसकी वही हैसियत है जो सामरिक कानून की है। अर्थात् जब अधिकारी-वर्ग एक कैदी के विरुद्ध सभी मामूली कानूनो का प्रयोग कर तथा दण्ड देकर थक जाएँ और फिर भी कैदी न सुधरे, तभी इस कानून का प्रयोग किया जाए, यदि कानून निर्माताओ का कोई अभिप्राय होता तो यही था। परन्तु 'सी' श्रेणी के क्रान्तिकारियो के विरुद्ध जेल मे घुसने के दिन से ही इस कानून का प्रयोग किया जाता था। कहा जाता था कि प्रान्तीय सरकार की ऐसी ही आज्ञा है। कहना न होगा कि चौबीसो घण्टे कोठरी मे बन्द रहना मानसिक एव शारीरिक, सभी प्रकार के स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। बलात्कार, विषदान आदि जघन्य अपराधो मे दंडित कैदियो पर भी इस दृष्टि से उस जेल मे क्रान्तिकारियो से अच्छा व्यवहार होता था।

हमारा अनशन मुख्य रूप से इस दफा 28 के विरुद्ध था। इसके अतिरिक्त कम-से-कम एक जेल के सभी 'बी' श्रेणी के राजनीतिक कैदी इकट्ठे रखे जाएँ, यह हमारी दूसरी माँग थी। चूँकि अनशन किया ही गया, इसलिए अपनी छोटी-मोटी शिकायतों पर इसी अवसर से लाभ उठाकर सरकार की दृष्टि आकर्षित की गई। भारत सरकार ने सन् 1930 की 19 फरवरीवाली तत्सम्बन्धी विज्ञप्ति में यह प्रतिज्ञा की थी कि प्रान्त के 'बी' श्रेणी के

सब कैदी किसी जेल में एक साथ रखे जाएँगे, किन्तु जब कार्य रूप में परिणत करने का अवसर आया तो युक्त प्रान्तीय सरकार ने क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में उसे कार्यरूप में परिणत नहीं किया। फलस्वरूप उन्हें अलग-अलग जेलों में विभक्त रखा गया। इसके अतिरिक्त उस विज्ञप्ति में यह भी घोषणा की गई थी कि अब जेलों में भारतीय और गोरों में प्रभेद-बुद्धि का बर्ताव नहीं किया जाएगा। किन्तु कार्यरूप में यह बात भी नहीं लाई गई। पहली बात यह है कि गोरे तथा अधगोरे कैदियों को नैनी जेल में एकत्र एक बैरक में रखा जाता था। हमारे सम्बन्ध में फिर यह अलग रखने की नीति क्यों थी? हमने अपने अनशन में इन बातों के विरुद्ध भी प्रतिवाद किया।

मणीन्द्र का स्वास्थ्य पहले से ही कुछ खराब था, किन्तु उसने बड़े ही उत्साह से इन अनशनों में भाग लिया। वह तो कह रहा था कि 'सी' श्रेणी के राजनीतिक कैदियों के लिए 'बी' श्रेणी की माँग रखकर अनशन किया जाए। किन्तु अन्त में यही निश्चय हुआ कि दफा 28 के विरुद्ध तथा 'बी' श्रेणी के कैदियो को एकत्र रखने की माँग के लिए अनशन किया जाए। एक तो चन्द्रभानसिंह पर मारपीट ही यथेष्ट कारण था, तिसपर रमेश गुप्त को अनुचित रूप से सजा दी गई, उस पर हमने ये माँगें जोड़ दीं। इसलिए यह एक महत्त्वपूर्ण अनशन हो गया।

रमेश बेड़ी मिलने के दिन से ही 'बी' श्रेणी की माँग रखकर तथा अपनी अनुचित सजा के प्रतिवादस्वरूप अनशन कर रहा था। हम लोगों ने अर्थात् 'बी' श्रेणी के मणीन्द्र बनर्जी, यशपाल, रणधीर सिंह और दाताराम ने 14 मई सोमवार से अनशन आरम्भ कर दिया। रणधीरसिंह को उसी समय लड़का चक्कर से हटाकर छोटे चक्कर की एक कोठरी में रखा गया और रेवतीरमण को दुबारा चक्कर की कोठरी में डाल दिया गया। मुझे रणधीर की कोठरी का बाद मे कुछ अनुभव हुआ। इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि वह कोठरी दोपहर के समय भरसाईं के समान तपती थी।

अनशन चलने लगा। बहुत-से कारणों से जिसमें कि एक कारण यह भी था कि बाहर जिस व्यक्ति के द्वारा अनशन की खबर गुप्त रूप से भेजने की चेष्टा की गई थी, उसने हमें धोखा दिया, मैंने यह निश्चय किया कि अब अनशन स्थगित कर दिया जाए। 23 तारीख को मैं इसी उद्देश्य को लेकर जहाँ-जहाँ हमारे साथी बन्द थे, वहाँ-वहाँ जाकर परामर्श किया। अन्त में यही निश्चित हुआ कि अनशन स्थगित ही कर दिया जाए। मणीन्द्र की हालत बहुत खराब हो गई थी। इससे भी मैं बहुत चिन्तित था। मेरे अनुरोध के अनुसार मित्रों ने 23 तारीख को अनशन स्थगित कर दिया, केवल रमेश गुप्त अनशन करता रहा, क्योंकि रात हो जाने के कारण उसके पास मैं न जा सका।

दूसरे दिन सवेरे ही मुझसे रमेश की त्रिमुहानी पर भेंट कराई गई। आज भी वह दिन मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। वह वीर भाई यह समझ ही नहीं पा रहा था कि मैंने अकस्मात्

इस प्रकार अनशन को स्थगित क्यों कर दिया। मुझे देखते ही उसकी आँखों में अश्रुधारा उमड़ पड़ी। मेरा हृदय भर आया और एक बार फिर यह इच्छा हुई कि मैं फिर से अनशन शुरू कर दूँ, किन्तु किसी कार्य के संचालन का काम बड़ा ही विकट होता है। हमको प्रायः ऐसी बातें करनी पड़ती है जो हमारी निजी राय के विरुद्ध हों क्योंकि हमें सबको साथ लेकर चलना पड़ता है। सचमुच ही यह रमेश के लिए बड़ी दुखद घटना थी। इसके अतिरिक्त उसकी लड़ने की जागृत इच्छा अभी तृप्त नहीं हुई थी। अस्तु, कुछ देर की बातचीत के बाद मैं उसे अनशन तुड़वाने में समर्थ हुआ। रमेश ने बिछुड़ते समय कहा, "भैया, यह अन्तिम भेंट है।" उस समय ऐसा सोचने के लिए यथेष्ट कारण थे। उस समय की परिस्थितियों को देखते हुए यह बात सच ही मालूम हो रही थी। किन्तु घटनाचक्र ने कुछ और ही बात कर दिखाई। थोड़े दिनों बाद रमेश को 'बी' श्रेणी दी गई और वह हम लोगों में आ गया। फिर तो आगरे तथा नैनी में भी साथ रहा। हम और वह लगभग पाँच वर्ष एक जेल में एकसाथ रहे। पर वह बाद हक बातें है।

अनशन तोड़ने के बाद मणीन्द्र का स्वास्थ्य जिस क्रम से सुधरना चाहिए था, उस क्रम से नहीं सुधर रहा था, बल्कि वह बिगड़ता ही जा रहा था। बिगड़ते-बिगड़ते उसकी हालत इतनी खराब समझी गई कि वह 16 जून को अस्पताल भेज दिए गए।

20 जून, 1934 का प्रभात एक साधारण प्रभात की भाँति था। हाँ, मणीन्द्र अस्पताल में थे। यह अन्तर हमारे लिए साधारण न था, क्योंकि सवा तीन वर्ष तक हम एकसाथ रहे, एक लम्बी सजा प्राप्त कैदी के लिए उसका साथी कितना महत्त्वपूर्ण होता है तथा वह उसके जीवन के कितने अधिक भाग पर अधिकार जमा लेता है, यह केवल भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। वह अनायास ही उसकी दिनचर्या के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लेता है।

यद्यपि मणीन्द्र अस्पताल में थे, किन्तु मै विशेष चिन्तित न था, क्योंकि वह शहीद होंगे, ऐसी कल्पना हमारे मन में क्षणमात्र के लिए भी प्रतिभाषित नहीं हुई थी। यदि हमें बराबर उसकी रोगशय्या के पास परिचर्यार्थ रहने दिया जाता तो हम कृतार्थ हो जाते किन्तु हम कैदी थे। पराधीन थे। हमारी बातें कौन सुनता! ऐसी विलासिता की कल्पना हमारे लिए कदाचित् धृष्टता थी। बाद में हमने जो तथ्य संग्रह किए है, उनसे हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे है कि यदि हममें से किसी को उसकी रोग-शय्या के पास रहने दिया जाता तो और कुछ न हो, वह बहुत-से अप्रयोजनीय कष्टों तथा सुविधाओं से बच जाते। मणीन्द्र के मुख से ही मैंने सुना कि मंगलवार की रात्रि अर्थात् मरने के पूर्ववाली रात्रि को उसने एक बार पानी माँगा, किन्तु उस समय उसकी देखभाल के लिए जो कैदी नियुक्त था वह अच्छी तरह निद्रा की गोद में आराम कर रहा था। अतः उसने जब करुण-कातर स्वर में पानी

मागा, तो खुरटि की विकट आवाज ने उसका उत्तर दिया। फलस्वरूप मणीन्द्र को अपनी छिन्न-भिन्न तथा दिवालिया शक्ति को एकत्र कर हाथ के पास की एक बोतल को जमीन पर पटक देना पड़ा। मै इस स्थान पर अपनी कल्पना की डोरी को जरा बिना ढीली किए नहीं रह पाता। मै जब उस समय की मानसिक अवस्था की कल्पना करता हूँ जिस समय उसने करीब-करीब मृत्यु-शय्या से पानी माँगा और उसे पानी नहीं मिला, तब मै अपने को सवरण नहीं कर पाता हूँ। मणीन्द्र के जीवन की घटनाओ मे से यह केवल एक घटना थी। 6 वर्ष तक बराबर उसके जीवन मे ऐसी घटनाएँ हुई, यह बात नहीं। हाँ, मणीन्द्र के जीवन म कुछ अधिक हुई, इसमें तनिक भी सन्देह नही। उसको अपनी सारी लड़ाइयाँ अकेले ही लड़नी पड़ी थीं। उसे प्राय एक दर्जन बार जेल की विभिन्न सजाएँ मिली थीं, अनशन भी उसे कई बार करने पड़े थे।

बोतल तोड़ने के फलस्वरूप मणीन्द्र को पानी मिला था।

मणीन्द्र की आकस्मिक मृत्यु के लिए यह पेशेदार तथा हृदयहीन सुश्रुषा कहाँ तक उत्तरदायी है इसका कौन निर्णय करेगा?

मै कह रहा था कि 20 जून साधारण रूप से अवतीर्ण हुआ था। पहले दिन सध्या समय एक अच्छी बौछार आई थी—मैंने उसमे भीगकर खूब नहाया था। और वर्ष जब यह पहली वर्षा होती थी तो मणीन्द्र और मै, दोनो साथ-साथ होड़ लगाकर नहाया करते थे, नहाते समय मुझे उसका अभाव खटका था किन्तु यह विचार कर कि वह शीघ्र ही स्वस्थ होकर लौट आएगा, मैंने अपने को दुखी नहीं होने दिया। कई कारणो से मेरी मानसिक अवस्था एक मास से सामान्य न होकर कुछ खराब थी। परन्तु 20 तारीख को मेरा मन कुछ प्रफुल्लित था। आज इतना बडा अनर्थ होने जा रहा है, इसका कुछ भी आभास मुझे न था। वर्षा का पानी पाकर हमारे मन की शून्यता कुछ-कुछ कम होने लगी थी, तभी तो बाद का यह धक्का इतना आकस्मिक और भयानक हुआ। यदि रणधीरसिंह और यशपाल न होते तो मेरे लिए वह धक्का सँभालना बड़ा कठिन होता। रणधीर की सहानुभूति ने इस समय अमृत का कार्य किया।

मणीन्द्र को जिस अस्पताल ले जाया गया, उस दिन की बात मुझे स्पष्ट—बहुत स्पष्ट—याद है। 'बी' श्रेणी के वार्ड मे मेरी और मणीन्द्र की खटिया (सीमेंट की बनी हुई कब्र जिस पर कैदी सोते है) अगल-बगल ही थी। गत 3 वर्षों से मै भी उसकी शय्या अपने से पौने चार हाथ दूर पर देखने के लिए अभ्यस्त था। प्रतिदिन मेरे उठने के लगभग आध घण्टे बाद मणीन्द्र उठता था। इस बीच मैं मुँह आदि धोने से निवृत्त होकर बैरेक के पास के छोटे-से बगीचे में चहलकदमी या व्यायाम करता था। प्राय कई मास से मणीन्द्र मेरे व्यायाम में सम्मिलित नहीं होता था। बगीचे मे आकर चुपचाप बैठा रहता था, और कहाँ

पर कौन-से फूल का पौधा लगाया जाए इसकी आलोचना करता था। मैं कुछ ताज़े फूल तोड़कर उसके हाथ में दे देता था। वह तनिक मुस्कुरा देता था। इसका कारण यह था कि उसकी कड़ी आज्ञा थी कि कोई भी बगीचे का फूल न तोड़े, इस 'कोई भी' के अंदर मैं भी आ जाता था। मैं इस आज्ञा से कुछ प्रसन्न न था क्योंकि मैं चाहता था कि मेरी लिखने की मेज़ पर एक ताज़ा गुलदस्ता नित्य मिले, इसी कारण मैं नित्य उसके सामने ही उसके आदेश को भंग करता था। इसीलिए यह मुस्कराहट थी। इस मुस्कराहट का अर्थ था—अरे शैतान!

20 जून के पहले वाले शनिवार अर्थात् 16 जून को दिन में 8 बजे मणीन्द्र को अस्पताल में ले जाया गया था, शुक्रवार की रात बहुत बुरी बीती थी, एक बार कै और दो बार दस्त हुए थे। उसके हाथ और पैर कुछ-कुछ फूल गए थे। शुक्रवार के दिन एक और लक्षण दिखाई दिया, उसको साँस लेने मे इतना कष्ट होने लगा कि उसके लिए सोना असम्भव हो गया। उसे जीवितावस्था मे इसके बाद सोना नसीब नही हुआ, बैठे-ही-बैठे दिन एवं रातें काटनी पड़ीं। अवश्य, उसे एक मेडिकल कुरसी दी गई थी, जिससे कि वह उस दशा में जहाँ तक हो सके, आराम से बैठ सकता था।

शुक्रवार की रात को मुझे भी उसके साथ जागना पड़ा।

16 जून को सवेरे से ही मैं मणीन्द्र के पास बैठा था। उसकी अवस्था रात से कुछ अच्छी जान पड़ रही थी। उसप बैठे-ही-बैठे उसकी रात बीती थी। मणीन्द्र पूर्व की ओर मुख करके बैठा था। इस बाग का माली और निर्माता वही था। ज्यामिति की सब प्रकार की आकृतियाँ इस बाग मे अपनी छटा दिखला रही थीं। इस बाग के परिचालन तथा सजधज के संबंध मे हम दोनो में कितने ही सारहीन वाद-विवाद हो चुके थे। प्रत्येक फूल के पौधे का एक इतिहास था, और मणीन्द्र उस इतिहास को जानता था।

जब अस्पताल में उसे ले जाने के लिए रैडक्रॉस-चिह्नित एक स्ट्रेचर और चार लड़के आए, तो इस बुरी दशा मे मणीन्द्र से बिछुड़ने की सम्भावना से मेरी आँखो में अँधेरा छा गया। मणीन्द्र ने पहले इन्हें नहीं देखा, क्योंकि वह दरवाज़े की ओर पीठ किए हुए बैठा था। जब मैंने उसे यह ख़बर दी तब उसने मेरे हाथो को बड़े ज़ोर से पकड़ लिया। जितनी देर हम ऐसा कर सके, किया। किंतु प्रत्येक बात की एक सीमा होती है। विशेषकर मैं यह थोड़े ही जानता था कि यह यात्रा उसकी अगम्य यात्रा है। इसके बाद मैंने बड़ी सावधानी से उसे स्ट्रेचर पर लिटा दिया और लड़कों को समझा दिया कि किस प्रकार ले जाने मे झोका नहीं लगेगा। आखिर जमादार ने कह ही दिया, तो फिर चला जाए। मणीन्द्र ने फिर मेरे हाथों को पकड़कर दबा दिया। मेरी आँखें आर्द्र हो गयीं। मणीन्द्र बराबर अपनी सरल सुंदर, रोगकातर आँखे विस्फारित कर हमारे और हमारे बैरक की ओर देख रहा

था। मणीन्द्र ने यहीं मुझे अन्तिम बार देखा। क्योंकि इसके बाद जब हमें चार दिन के उपरान्त उससे मिलने की अनुमति मिली तब मणीन्द्र की बड़ी बड़ी आँखें दृष्टि शक्तिहीन हो चुकी थीं। यथास्थान वह हृदय वेधी कहानी विवृत की जाएगी।

स्ट्रेचर उठाया गया। मेरे लिए जितनी दूर तक जाना सम्भव था मैं गया। कहना न होगा कि मेरी रस्सी बहुत छोटी थी।

मणीन्द्र अस्पताल चला गया।

इसके बाद हमें मणीन्द्र के संबंध में जो कुछ भी खबरें मिलीं वे गैरकानूनी उपायों से मिलीं। मणीन्द्र ने भी इसी हालात में कई खबरें भेजीं। जिनमें से एक यह थी कि उसकी हालत खराब होती जा रही है और उसने अपनी माँ को एक तार दिया है।

इसके बाद 20 जून की बात है।

पहले ही कहा जा चुका है कि 20 जून का प्रभात अपने साधारण रूप में ही हमारी बैरक में प्रकट हुआ था। उसके सुनहले अवगुंठन के पीछे एक महान् अनर्थ छुपकर शिकार के लिए बैठा है— इसका लेशमात्र भी ज्ञान हमें नहीं था। 9 बजे दिन के समय मैं एक पुस्तक को साक्षी रखकर अपनी विचारधारा में बहा जा रहा था, श्री यशपाल भी कुछ पढ़ रहे थे, इतने में जेल की भाषा में रिपोर्ट मिली कि बड़े जेलर 'बी' क्लास की ओर आ रहे हैं। हम उनके असमय आगमन के कारण का अनुमान कर रहे थे कि इतने में ही वे जूते चर्रमर्र करते स्वयं ही आ पहुँचे।

हमारे साथी श्री यशपाल तथा मैंने जेलर की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। उन्होंने भी भूमिका न बाँधकर एकदम कहना प्रारम्भ किया— मि. बनर्जी की हालत बहुत खराब है। क्या आप उनसे मिलना चाहते हैं?

हम दोनों ने एक साथ ही कहा—अवश्य, अवश्य। किन्तु मामला क्या है?

उत्तर के लिए प्रतीक्षा किए बिना ही मैं जल्दी से रवाना होने के लिए तैयार होने लगा। कामरेड पाल जेलर से बातें करने लगे। तीन मिनट के अन्दर ही हम जेलर के साथ अस्पताल की ओर चल पड़े। रास्ते में और पूछताछ की तो इसके उत्तर में जेलर ने कहा—आगामी दस मिनटों के अन्दर मि. बनर्जी का मरना निश्चित है।

इसके बाद भी उन्होंने कुछ कहा, किन्तु क्या कहा, यह मैं सुन या समझ नहीं सका। इस खबर को सुनते ही हमारे चित्त की अवस्था भ्रांत-सी हो गई और हम जल्दी से अस्पताल की ओर चलने लगे। अस्पताल जाकर क्या देखता हूँ कि मणीन्द्र नंगे शरीर दो तकियों के ऊपर औंधा होकर पड़ा है और कुछ धीमे शब्दों में कराह रहा है। यह भी देखा कि उसकी देखभाल के लिए मिला हुआ कैदी पास ही निर्लिप्त रूप से बैठा हुआ है। शिथिल वृन्त एवं पतनोन्मुख पुष्प की भाँति मणीन्द्र का मुख निष्प्रभ एवं मलिन हो गया था। हमने

एक ही दृष्टि मे सब परिस्थिति समझ ली।

मै सीधा मणीन्द्र की खाट पर बैठा और झपटकर उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। ऐसा करना हमारी भूल हो सकती है किन्तु हमे ऐसा जान पड़ा कि हमारे आते ही उसके मुख की कातर-मुद्रा कुछ देर के लिए अन्तर्हित हो गई। मैंने जोर से पुकारकर कहा-''मणी, मणी मै आया हूँ।''

मणीन्द्र ने कहा—''हाँ, हाँ, तुम मन्मथ हो, तुम मुझे खूब जोर से पकडे रहो, अब मै जा रहा हूँ।''

मैंने कहा— ''देखो मणीन्द्र, आने-जाने की बात सब फिजूल है।''

और मै फिर उसे सुनाने लगा कि बीमारी मे किस प्रकार दामोदर सेठ 122 पौण्ड से 62 पौण्ड रह गए थे। एक चम्मच फल का रस भी हजम नहीं होता था, किस प्रकार राजकुमार सिह बरेली मे इतने अस्वस्थ हो गए थे कि एक चम्मच हारलिक्स का दूध हजम नही कर पाते थे, फिर भी वे आज जीवित है, मरे नहीं, स्वस्थ है। मणीन्द्र इन कहानियो को अच्छी तरह जानता था, कोई मेरी गढी हुई बाते नहीं थीं। इसीलिए मैंने स्पष्ट देखा कि वह प्रभावित हो रहा है।

मैंने देखा कि उसने अभी तक श्री यशपाल की उपस्थिति अनुभव नही की। इसलिए मैंने कहा—''मणीन्द्र, मि पाल पास ही बैठे है, क्या तुम उन्हें नहीं देख पा रहे हो?''

मणीन्द्र ने इसके उत्तर मे आँखे खोलकर देखा, किन्तु उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ा, तो वह निराश होकर बोला—''नहीं, मै कुछ भी नहीं देख पा रहा हूँ, बाई आँख से एकदम कुछ नहीं, दाहिनी आँख से जरा धुँधला-सा देख रहा हूँ, मि पाल, आप बैठिए।''

इस बात को सुनते ही मै इतना मर्माहत हो गया कि हमारे हाथ-पैर शिथिल हो गए। श्रीयुत पाल ने मणीन्द्र को पकड लिया, क्योकि मै खाट से छिटककर जमीन पर जा पडा। खैरियत यह हुई कि मैंने लोहे की खाट के पावे को पकड लिया। मैंने जल्दी से जेलर के होते हुए भी कमीज उतार डाली। ऐसा मालूम हुआ कि मै बेसुध हो जाऊँगा किन्तु जीवन मे मै कभी बेसुध नहीं हुआ था, उस दिन भी नही हुआ। इस विह्वल आपेहीन अवस्था मे मैंने दो मिनट बिताए होगे। फिर मेरा आत्मबल जागृत हो उठा और उस दिन जब तक मणीन्द्र जीवित रहा तब तक मै फिर आपे से बाहर नहीं हुआ।

एक गिलास पानी पीकर मै पुन कमर कसकर मणीन्द्र के पास पहुँचा। यद्यपि मै यह जानता था कि यह दृष्टिहीनता का लक्षण बहुत ही खराब है और जीवन-रूपी प्रदीप में अत्यन्त तैलाभाव सूचित करता है। फिर भी मै मणीन्द्र को बराबर समझाने लगा कि वह कुछ नहीं है। मणीन्द्र मेरी बातो को ध्यान मे सुनता रहा, उसका प्रतिवाद नहीं किया। वह अच्छे लड़के की भाँति मेरी वक्तृता को हजम करने लगा। श्रीयुत पाल ने इस बीच

में बी श्रेणी के बैरेक मे ओडीक्लोन की शीशी मँगाई और ओडीक्लोन मणीन्द्र के सीने पर मलने लगे।

मै मणीन्द्र को इसी प्रकार पकड़कर जेलर से पूछने लगा—"इनके घरवालों को इनकी क्या खबर दी गई है?"

इसके उत्तर में मुझे बतलाया गया कि बनारस में एक तार भेजा जा चुका है। मैंने कहा, यह यथेष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त मैने कहा कि जो तार दिया गया है उसका शब्द-विन्यास ठीक नहीं है। उससे परिस्थिति की भयानकता स्पष्ट नहीं होती। खैर, तर्क-वितर्क के बाद जेलर ने दो-तीन और तार सरकारी खर्च से भेजना स्वीकार किया। इसके फलस्वरूप मेरठ, इलाहाबाद तथा बनारस में तार भेजे गए।

तार भेजने की व्यवस्था कर लेने के बाद मैंने जेलर से पूछा कि आई.जी. को क्या रिपोर्ट दी गई है? इसके उत्तर में मुझे बतलाया गया कि सोमवार के दिन मेजर भंडारी ने आई.जी को रिपोर्ट दी है। मैने कहा, लिखा है तो अच्छी बात है किन्तु ऐसी अवस्था मे मणीन्द्र को बहुत पहले ही छोड़ देना चाहिए था। बहुत-से कैदी स्वास्थ्य की खराबी के कारण प्रतिवर्ष छोड़े जाते है, यह तो आप जानते ही होंगे। फिर आप यह भी जानते है कि यदि मणीन्द्र को कुछ भारी हानि हुई तो जनता उसका भारी विरोध-प्रदर्शन करेगी और उसके फलस्वरूप यदि कोई कमीशन बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं। आप जानते है कि लखनऊ जेल मे जब अवधसिंह मर गए थे तब बाद में कैसा तूल-तबील हुआ था।

इस प्रकार कुछ गम्भीर रूप मे, तथा कुछ परिहास में, मै जेलर को सहज सत्य बातें समझा रहा था। वह भी पुराना खुर्राट था, मेरी बातो का नॉनकमीटल उत्तर दे रहा था। मणीन्द्र हम लोगो की बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था। श्री यशपाल और मै विशेष रूप मे उसका ध्यान बँटाने के लिए तथा उसे यह दिखाने के लिए कि उसकी अवस्था जरा भी खराब नहीं है, इधर-उधर की बाते करने लगे। कहा जा सकता है कि हम जरा अभिनय कर रहे थे।

मणीन्द्र के साथ बातचीत करने में हमें यह भी ज्ञात हुआ कि सवेरे फर्रूखाबाद के सिविल सर्जन मि गुलाम मुर्तजा मि. भंडारी के साथ आकर परीक्षा कर गए थे और बाद मे उसे दो इंजेक्शन भी दिए गए थे। जेलर ने तुरन्त ही प्रतिवाद किया कि वह इजेक्शन के विषय में कुछ भी नहीं जानता। किन्तु मणीन्द्र ने दृढ़तापूर्वक कहा कि इंजेक्शन अवश्य दिया गया था। तब जेलर बोला—"सम्भव है इंजेक्शन दिया गया हो, पर मैं मौजूद नहीं था।"

तब श्री यशपाल और मैंने मणीन्द्र की बाँहों की परीक्षा की, स्पष्ट ही इंजेक्शन के चिह्न मौजूद थे। मुझे जरा सन्देह हुआ किन्तु मैंने सुझाव दिया कि पिट्टीन का इंजेक्शन

दिया गया होगा। हम सबने इस अनुमान को सत्य रूप में ग्रहण किया। किन्तु मणीन्द्र ने कहा कि उस इंजेक्शन से उसे कोई लाभ नहीं हुआ, बल्कि उस समय से उसकी अवस्था बिगड़ती ही जा रही है। यह बात तो स्पष्ट थी। यह बात हो सकती है कि इंजेक्शन ठीक दिया गया हो, किन्तु उस समय उसकी अवस्था इतनी खराब हो चुकी हो कि इंजेक्शन का कोई प्रभाव न हो सका हो।

मणीन्द्र की श्रवण एवं विचार-शक्तियाँ अन्त तक प्रखर थीं। वह श्री यशपाल के प्रश्नों के उत्तर बराबर अंग्रेजी में तथा मेरे प्रश्नों के उत्तर बाग्ला में देता जा रहा था। उसे बीच-बीच में साँस का दारुण कष्ट हो रहा था और वह बड़े करुण ढंग से कराह रहा था। यह कराहना सुन सुनकर हम लोगों का हृदय भीतर ही भीतर बैठा जा रहा था। परन्तु हाय! उसे कुछ भी लाभ करना हमारे वश की बात न थी। बीच-बीच में हम उसे चम्मच से पानी दे रहे थे।

ऐसे समय में हमें अकस्मात् याद आया कि डॉक्टर मुकर्जी नाम के एक सज्जन शहर में रहते हैं। मैंने जेलर से कहा किन्तु मुझे बताया गया कि वे बहुत दिन हुए, इस शहर से चले गए हैं। इसके बाद मणीन्द्र ने स्वयं ही स्मरण कर अपने एक रिश्तेदार का नाम बतलाया जो इसी शहर में रहते हैं और सरकारी स्कूल में मास्टर या हैडमास्टर हैं। जेलर उस समय चला गया था इसलिए मैंने स्वयं एक पर्चा लिखकर जेलर को खबर दी। बाद में हमें बतलाया गया कि वहाँ आदमी भेजा गया था किन्तु वहाँ पर इस नाम के किसी अध्यापक का पता नहीं लगा।

जब मैं अस्पताल में आया था, तभी मुझे बतलाया गया था कि कम्पाउडर शहर में मणीन्द्र के लिए दुर्लभ दवा लाने के लिए गया है और जिले का सूबेदार भी सामरिक अस्पताल में मणीन्द्र के लिए ऑक्सीजन लाने के लिए गया है। जब उसकी दशा इतनी खराब हो गई और जीवन की कोई आशा न प्रतीत हुई तब ये सब उपचार होने लगे। हाय! दो दिन पूर्व यदि ये सब बातें की जातीं।

बड़े डॉक्टर ने मुझे यह बतलाया कि कम्पाउंडर जिस दवा को लेने के लिए गया है वह फर्रूखाबाद के सदृश 'जंगली एवं अभागे' शहर में शायद ही मिले।

विगत 24 घंटों में मणीन्द्र ने दो औंस से अधिक पेशाब नहीं किया था। उसका मूत्राशय एकदम बेकार हो रहा था और उसकी कार्यशक्ति चली-सी गई थी।

सात दिन तक न सोने के कारण, यहाँ तक कि लेटना भी संभव न होने के कारण उसकी जीवन-शक्ति भाटे के निम्नतम श्रेणी में आ गई थी। 14 मई वाले अनशन के समय से ही उसके पेशाब से अल्ब्यूमन-क्षरण हो रहा था और मूत्राशय उसी समय से विध्वस्त होना आरम्भ हो गया था। वह अनशन के समय अपनी इस बात को भली भाँति जानता

था। मेजर भंडारी ने बार-बार उसे यह बात कहकर सावधान कर दिया था और कहा था कि उसके लिए अच्छा होगा कि वह अनशन तोड़ दे। यह भी एक कारण था जिसके कारण मैने 23 मई को अनशन तोड़ने के लिए अपने साथियो को परामर्श दिया था।

यदि अनशन के बाद भी मणीन्द्र की ठीक-ठीक चिकित्सा, सुश्रुसा तथा पथ्य का प्रबन्ध होता तो वह न मरता, इसमे मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। जिस व्यक्ति का मूत्राशय विध्वस्त हो गया हो उसे मामूली 'बी' श्रेणी के कैदी के समान मास खाने के लिए देना साधारण गलती न थी। आश्चर्य तो यह है कि उसे रक्त के दबाव (ब्लड प्रैशर) की बीमारी भी थी किन्तु जब वह मरने के पाँच दिन पूर्व अस्पताल जाता है तभी उसका निदान किया जाता है। पहले कभी रक्त या उसके दबाव की परीक्षा भी नही की गई। जब परीक्षा हुई तब मालूम हुआ कि उसे ब्लड प्रैशर है। नियमत दबाव 125 के लगभग होना चाहिए था। मै कोई डॉक्टर नहीं हूँ, अत इस सम्बन्ध मे कोई सम्मति नही दे सकता। किन्तु सामान्य बुद्धि से मै भी इतना समझता हूँ कि रक्त का दबाव एकाएक रातोरात 200 नहीं हो गया। पथ्य के सम्बन्ध मे जिस मूर्खता का व्यवहार किया गया उसे पहले ही कहा गया है। जितनी उदारता इस सम्बन्ध मे साधारण चोर-बदमाशो के साथ की जाती है उसके साथ उतनी उदारता नही की गई। बारम्बार कहने पर भी जलवायु परिवर्तन के लिए उसे दूसरे जेल में नही भेजा गया। नियमानुसार उसे अनशन के बाद मेडिकल ग्राउण्ड पर छोड भी देना चाहिए था। क्या यह बात सत्य नही है कि प्रतिवर्ष उससे भी कम बीमारी के कारण सैकडो खतरनाक कैदी छोड दिए जाते है?

लगभग 11 बजे दिन के समय उसकी अवस्था कुछ अच्छी प्रतीत हुई। मै तथा श्री यशपाल बराबर मणीन्द्र को थामकर बैठे हुए थे और आवश्यकतानुसार स्नेह के साथ उसके घुँघराले बालों, सिर तथा हाथ पर हाथ फेरते जाते थे। वह हमारे इस आदर को पसन्द कर रहा था। किन्तु जब साँस का कष्ट होता था तब वह घबराकर हम लोगो का हाथ छुडा लेता था और निराश होकर कराहने लगता था।

उस समय मणीन्द्र ने कहा कि उसके कोई मामा थे, मरने के पूर्व उनकी भी ऐसी ही अवस्था हुई थी। मैने फिर मणीन्द्र को शान्त करने के लिए अपनी वक्तृता प्रारम्भ कर दी। जिसका भाव यह था—मणीन्द्र, तुम क्रान्तिकारी हो, क्या तुम अभी शहीद हो सकते हो, जबकि तुम्हारा काम पड़ा हुआ है?

मणीन्द्र मानो कुछ सोचने लगा।

उसकी दृष्टि-शक्तिहीन बड़ी-बड़ी आँखे एक बार पुन प्रदीप्त हो उठीं। उसके बाद उसने धीमे तथा दृढ़ स्वर मे कहा, ''मरने से मै नहीं डरता, न कभी डरता था। मुझे दु:ख यह है कि मै रोग से मर रहा हूँ।''

किन्तु मणीन्द्र रोग से नहीं मर रहा था, वह दो महान उद्देश्यों के लिए मर रहा था। अनशन 15 आने तथा दंडित होना 1 आना उसकी असामयिक मृत्यु के कारण थे। उसने राजनीतिक कैदियों की अवस्था उन्नत होने के लिए अनशन किया था, और वह जेल में भारत की स्वाधीनता के लिए आया था।

मैंने मणीन्द्र को बतलाया कि रणधीरसिंह, रमेशचन्द्र आदि इस जेल के राजनीतिक कैदीगण उसकी सुश्रुषा करने के लिए बड़े ही उत्सुक है, किन्तु उनको इसका अवसर नहीं दिया जाएगा।

12 बजे के समय जब हमने यह समझ लिया कि मणीन्द्र की अवस्था उतनी खराब नहीं है जितनी कि जेलर ने हमें बतलाई थी, तो हमने निश्चय किया कि एक-एककर दोनों व्यक्ति नहाने-खाने से निपट लें। इसके पहले ही हम लोगों ने मणीन्द्र को जरा-सा दूध अण्डे की सफेदी में फेंटकर बड़ी खुशामद से पिलाया था। मुझे एक और भी काम था, उसे भी करना था। मैं ही पहले गया। 15 मिनट से भी कम समय के अन्दर मैं अपनी बैरेक मे नहा-खाकर लौट आया। रास्ते में कई जगह पर कैदियों से सुना कि मणीन्द्र के मरने की खबर जेल में फैल चुकी है, किन्तु मै जानता था कि यह गलत है। उस समय बड़े जोर की धूप पड़ रही थी, बस इतना ही मुझे अपनी इस यात्रा के सम्बन्ध में स्मरण है।

मैं केवल कुछ मिनटों तक ही अनुपस्थित था, किन्तु मणीन्द्र इसी बीच में मेरे लिए व्याकुल हो रहा था। वह बार-बार श्री यशपाल से मेरे विषय में पूछ रहा था, इसलिए जब मै दृष्टि-पथ में आ गया तो तुरन्त ही श्री यशपाल ने मणीन्द्र से जोर से कहा, "वे आ रहे है, आप शान्त हो जाइए।"

मैने दौड़कर जाकर उसे पहले की तरह थाम लिया और यम के साथ युद्ध करने लगा। मणीन्द्र की देखभाल करनेवाला कैदी सम्भवत: हम लोगों के उदाहरण से उत्साहित अथवा लज्जित होकर अब धीरे-धीरे उसके पैरों को दबा रहा था। मैंने आते ही मणीन्द्र से कहा, "भाई, मैं आ गया।" मन ही मन उस समय मैं पश्चात्ताप कर रहा था कि मै क्यों गया।

मणीन्द्र के भाई या माता उस समय तक नहीं पहुँच पाए थे, अत: वह कहने लगा, "तुम्हीं लोग मेरे भाई हो, हमारा यहाँ कौन है," आदि। वह बराबर 'माँ' कहकर कराह रहा था।

इतने में कम्पाउण्डर दवा लेकर लौट आया। उसने कहा, यह दवा शहर के किसी भी फार्मेसी में न थी, एक प्राइवेट प्रेक्टिशनर के पास इस दवा का केवल 5 ड्राम मिला। खैर, जल्दी ही दवा तैयार कर दी गई।

मै भौतिकवादी हूँ, इसलिए स्वभावतः विज्ञान के ऊपर मेरी श्रद्धा ज़रा अधिक है।

मैने आशा की कि अब कुछ अलौकिक बात होगी, किंतु विज्ञान इस क्षेत्र नें बडी देर में आया था। इसके अतिरिक्त विज्ञान पूर्ण भी नहीं है।

दवा देने के बाद मैंने सोचा कि दवा उधर अपना कार्य करे, इधर मै मणीन्द्र के मन में बुझते हुए आशा-प्रदीप की बत्ती तनिक उकसा दूँ। मणीन्द्र की प्राण-रक्षा के लिए मै थोड़ी देर के लिए किसी भी प्रकार कुसस्कार के हाथों में आत्म-विक्रय करने के लिए तैयार था। यह बात सुनकर कोई क्रांतिकारी मित्र हँसे तो हँस सकता है। मै जानता था कि मणीन्द्र किसी समय बड़ा घोर ईश्वरवादी था। घंटो बैठकर ध्यान तथा जप किया करता था। मैने सोचा सम्भवत उसके मनस्तल में उसी को प्रज्वलित कर आज उसके मन मे आशा का उद्रेक किया जाए, तो बुराई क्या है। इसलिए मैने मणीन्द्र को खूब जोर से थामकर अपना भी समस्त भूतपूर्व ईश्वर विश्वास एकत्र कर जोरों से कहा, ''हे भगवान, यदि तुम हो तो मणीन्द्र को रोगमुक्त करो ...। मणीन्द्र ने जाने या अनजाने मे कभी किसी प्रकार का दुष्कृत्य नहीं किया है'' इत्यादि।

इस प्रकार मै कितनी देर तक ऊल-जलूल बातें बकता रहा, इसका मुझे पता नहीं, किंतु मुझे इतना स्मरण है कि मेरी दोनो आँखे आँसुओ से भर गई थीं। अवश्य, 'यदि तुम हो' इस वाक्यांश को मै अपनी प्रार्थना से निकाल न सका।

उस समय हमारे पास कोई न था। अकेले कमेरे मे मै बैठा था और मणीन्द्र, मणीन्द्र और मै। दूर बैठकर एक साठ साल का बूढ़ा कैदी ऊँघते ऊँघते पखा खींच रहा था। दोपहर का सन्नाटा था।

मणीन्द्र ने ईश्वर-प्रार्थना तथा दुर्बलता को आत्मसमर्पण करना पसंद नहीं किया। उसने मेरी प्रार्थना को बीच मे ही टोकते हुए कहा, ''टट! टट!! भगवान कहाँ है, न्याय कहाँ है? इस जगत मे दुष्टगण हमेशा सुख भोगते है और अच्छे आदमी कष्ट को सहन करते है।''

मेरी आकृति इस तिरष्कार मे तुरंत मलिन-सी हो गई। मैने फिर उसके सामने ईश्वर का नाम लेने की व्यर्थ चेष्टा नहीं की। मणीन्द्र की इन बातों से सहज में ही यह गलत धारणा हो सकती थी कि वह निराशावादी हो गया है, किंतु मानो इसी का निराकरण करने के लिए उसने थोडी देर बाद कहा, ''तुम लोग कह रहे हो कि रात को मेरे पास रहोगे, किंतु उससे व्यर्थ ही कष्ट मिलेगा, मै अपने लिए किसी को कष्ट देना नहीं चाहता।''

उसे कष्ट नहीं देना पड़ा था, क्योंकि जब रात आई तो वह सब प्रकार की सुश्रुषा के बाहर होकर मुर्दाघर में पड़ा था।

मणीन्द्र वास्तविकता के प्रति अंधा नही था, किंतु साथ ही उसके मन में अपने सहजीवियों के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति एक बड़ी मात्रा में वर्तमान थी। इस सहानुभूति रूपी मंदाकिनी

का उत्स-स्थल कहाँ था, यह कौन जानता है?

इसके बाद श्री यशपाल लौट आए और उधर सूबेदार भी ऑक्सीजन लेकर अस्पताल से लौट आया। 15 मिनट तक श्वास-प्रकिया के द्वारा उसके फेफड़े में ऑक्सीजन प्रविष्ट कराया गया। किंतु इससे कुछ लाभ होता प्रतीत नहीं हुआ।

बीच-बीच में एक चम्मच दूध, पानी या एक टुकड़ा बर्फ देना जारी रहा। दो बजे के बाद फिर दवा दी गई। इसके बाद मणीन्द्र स्वयं ही पानी माँगने लगा और उसका शरीर पसीजने लगा, किंतु सैकड़ों चेष्टा करने पर भी पेशाब नहीं उतरा। साँस का कष्ट बारम्बार उसी तरह उमड़ने लगा। माँ का तथा मेरा नाम लेकर कराहना बराबर जारी रहा। हाथ के तलुओं पर मैंने हाथ धरकर देखा कि वे ठंडे हो रहे हैं। ऐसे समय में मणीन्द्र ने यह भी शिकायत करनी प्रारम्भ की कि पैर भी सुन्न हो रहे हैं। मैंने मणीन्द्र को थामने का भार श्री यशपाल पर छोड़कर, रगड़ने की प्रक्रिया द्वारा यह प्रयत्न किया कि उसके पैरों में फिर चेतनता आ जाए। चेतनता आई, किंतु एक पैर में चेतनता लाने के पूर्व ही दूसरा पैर सुन्न पड़ने लगा। तब मैंने दोनों हाथों से दोनों पैर एक साथ रगड़ना प्रारम्भ किया। मणीन्द्र ने कहा, ''ठीक हो रहा है।'' किंतु ठीक क्या खाक होता? फेफड़ा अलग ही खराब हो रहा था, मूत्राशय जवाब दे चुका था, शरीर में जीवन-शक्ति एकदम न थी, दवाइयाँ बेकार जा रहीं थीं, फिर हम करते तो क्या करते?

मणीन्द्र ने इस समय कहा, ''सीने में कुछ अटक रहा है, ज़रा सीने पर हाथ से मल दो।''

इसलिए मैं वैसा ही करने लगा।

मणीन्द्र बीच-बीच में कराहना बंद कर देता था और कहता था, साँस का कष्ट ज़रा कम है। मालूम होता था मानो वह थोड़ा सोना चाहता है। मैं ज़रा आशान्वित हुआ। सोचा, इस बार कष्ट टल गया। मूत्राशय की ओर से कोई भी आशा नहीं मिली। सभी बेकार हो गए, किंतु न मालूम कैसा शक्तिशाली मस्तिष्क उसे मिला था कि वह अन्तिम साँस तक एकदम ठीक काम दे रहा था। केवल मस्तिष्क से ही यदि जीना सम्भव होता, तो मणीन्द्र चिरजीवी होता।

पैरों का सुन्न पड़ना तथा हाथों का ठंडा होना जारी रहा। हमारे मन में आशा और निराशा का द्वन्द्व हो रहा था। सच बात तो यह थी कि मैं कुछ हतबुद्धि हो रहा था। मुझे स्वयं ही सांत्वना, यहाँ तक कि चिकित्सा की आवश्यकता थी। ऐसे समय में यदि माँ या प्रभास आ पड़ते। मैंने आज पहली बार यह अनुभव किया कि मेरे साहस में त्रुटि है।

चार बजे के कुछ पूर्व हम लोगों ने निश्चय किया कि मणीन्द्र को बर्फ मिलाकर ज़रा दूध दिया जाए, किंतु मणीन्द्र ने यशपाल से कहा— ''आई डौन्ट फील लाइक टेकिंग।''

हम लोग पिलाने के लिए तर्क-वितर्क कर रहे थे। इतने में टन-टन करके चार बजे। देखते-देखते दवा आ गई, मैंने अपने हाथ से उसे दवा पिलाई, किंतु मणीन्द्र ने कहा, ''जल्दी करो, जल्दी।''

उसे निगलने में कष्ट हो रहा था। साँस का कष्ट फिर उठा। सम्भवतः इस बार का आक्रमण उसे सहन नहीं हुआ। उसको कई दिन से केवल विष-घटित दवा ही दी जा रही थी। उसकी हालत ही इतनी खराब थी।

मै बराबर उसे पकड़े रहा। ठीक सवा चार बजे के समय वह मेरे सीने पर लुढ़क गया। मैंने उसके शिथिल मस्तक को अपनी गोद में रख लिया। मै 'मणीन्द्र' कहकर बड़ी ज़ोर मे चिल्लाया। किंतु, कुछ भी उत्तर नहीं मिला। श्री यशपाल उस समय डॉक्टर को बुलाने गए, किंतु डॉक्टर उस समय सो रहे थे। उनके लिए तो ऐसी घटना नित्य की बात थी। वे क्या जानते थे कि भारतवर्ष की एक उदीयमान तिभूति लुप्त हुई जा रही है।

अन्त में जब डॉक्टर आए तो हाथ-पैर छटपटा रहे थे और कभी-कभी उसके मुख से एक अस्पष्ट और रुँधी हुई कराह निकल रही थी। डॉक्टर ने फौरन पेट्रटीन का इंजेक्शन दिया, किंतु कोई परिणाम नहीं निकला। दूसरे ही क्षण डॉक्टर ने स्टेथैस्कोप लगाकर कहा, ''सब समाप्त हो गया, कुछ भी नहीं है।''

इस प्रकार मेरे मित्र, साथी, छात्र तथा कुछ अंशों में पथ-प्रदर्शक का अन्त हो गया।

मै मूढ़तावश आशा कर रहा था कि शायद कोई भूल हुई होगी, इसलिए मैं एक बार डॉक्टर से तथा एक बार श्री यशपाल से पूछता था, ''क्यों, क्या कोई भी आशा नहीं है।''

डॉक्टर ने मेरे मुख की ओर ध्यान से देखकर कहा, ''नहीं।''

यह 'नहीं' बड़ा भीषण था। मै उस समय यह समझ नहीं पाया कि मुझे आश्चर्य अधिक हुआ या दुःख!!

इसके बाद मैंने श्री यशपाल से पूछा, ''क्या आप समझते है, मणीन्द्र शहीद हो गए?''

उन्होंने कहा, ''हाँ।''

इस 'हाँ' के कहते ही मैंने यन्त्रचालित की भाँति मणीन्द्र का चरणस्पर्श कर लिया। हतबुद्धि होने पर भी मै अपने देश के एक शहीद के प्रति अपना कर्तव्य नहीं भूला।

मणीन्द्र के प्राणहीन देह को सम्भवत. भंगियों द्वारा उठवाकर अस्पताल के मुर्दाघर में पहुँचा दिया गया। रात के समय मुर्दाघर में मनुष्य तो क्या एक दीपक तक नहीं रहता। बाहर से एक बड़ा भारी जंगी ताला लगा दिया जाता है। यहीं से दूसरे दिन मणीन्द्र की माँ आदि ने उसका उद्धार किया।

दूसरे दिन सवेरे रमेशचन्द्र ने अपना अन्तिम सम्मान प्रकट करने की अनुमति माँगी।

किंतु वह अस्वीकार कर दी गई।

प्रभास बाबू ने जिस प्रकार मणीन्द्र की दाहक्रिया आदि की, उससे मैं समझता हूँ, शहीद की मर्यादा किसी हद तक रक्षित नहीं हुई। उन्होंने न तो फर्रूखाबाद शहर में किसी को खबर दी, न कुछ और ही किया। लाश को वार्डरों और जेल के क्लर्कों की सहायता से ले जाकर गंगा किनारे दाह किया। इसमें प्रभास बाबू का भी दोष नहीं है, क्योंकि जेल के अधिकारियों ने यह पट्टी पढ़ा दी थी कि यदि इस प्रकार दाह न करोगे तो लाश दी ही न जाएगी। मुझे भली भाँति पता है कि इसमें स्थानीय अधिकारी-वर्ग का दोष है, सरकार ने इस संबंध में कोई आदेश नहीं दिया था।

मणीन्द्र एकदम 'अनसंग एण्ड अनवैप्ट' गया। यह उचित था कि उसका सार्वजनिक रूप से दाह-संस्कार होता।

मामूली कैदियों ने भी बड़ा शोक मनाया। वे मणीन्द्र को सुदामा कहा करते थे। रमेश ने उसका नाम युधिष्ठिर रखा था। रणधीरसिंह तो उसकी मृत्यु से बहुत टूट गया। उसन दूसरे दिन मुझे लिखा, "मुझे मालूम हो रहा है, मानो मेरे हृदय की गति रुद्ध हो जाएगी।"

मणीन्द्र ने गत 6 वर्षों से एक बात सीखी थी और वह थी— हृदय से फतेहगढ़ को घृणा की दृष्टि से देखना। फतेहगढ़ से बचने के लिए उसने मुझे भी छोड़ जाना चाहा था। दु:ख है कि उसके शरीर का संस्कार यहीं फतेहगढ़ में किया गया। किंतु इस संबंध में भी उसने अपने अदृष्ट को अँगूठा दिखाकर फतेहगढ़ का त्याग किया। उसका भस्म गंगा द्वारा परिचालित होकर काशी गया होगा। उसके प्रिय काशी में जब उसका भस्म जाकर पांडे घाट के पाषाण-हृदय को स्पर्श करेगा तब उससे कितना विपुल हाहाकार निकलेगा। पांडे घाट का पाषाण-हृदय इस स्पर्श के आवेग से चूर्ण-विचूर्ण हो गया होगा। 'माँ री! माँ री!! माँ री!!!'

पंडित रामप्रसाद बिस्मिल

पंडितजी पुराने मँजे हुए क्रांतिकारियों में थे। जब सन् 1917-18 में मैनपुरी षड्यंत्र चला था, तो उसमें भी आप एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे बराबर फरार रहे और गिरफ्तार नहीं हुए। और बाद में जब आम मुआफी दी गई, तब वे पुनः सार्वजनिक क्षेत्र में प्रकट हुए। वे कट्टर तो नहीं किन्तु आर्यसमाजी थे। उन्होंने दो-एक कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित किया था, जिनमें कई कविताएँ बहुत अच्छी थीं।

काकोरी षड्यंत्र में वे कदाचित सबसे प्रमुख व्यक्ति थे। सामरिक विभाग में तो और लोग उनके शिष्य थे। वे अनुशासन के बड़े कट्टर भक्त थे और यह पसन्द नहीं करते थे कि कोई भी बात बेढंगे ढंग से की जाय। उनकी शारीरिक शक्ति अद्भुत थी, घंटों परिश्रम करने पर भी वे नहीं थकते थे।

पं. रामप्रसाद लड़कपन से ही बहुत स्वाधीन व्यक्ति थे; उनकी यह स्वाधीनता तथा आत्मविश्वास कहीं-कहीं पर जाकर उनके तथा उनके साथियों के लिए घातक सिद्ध होता था। सामरिक-सगटन की शक्ति उनमें अद्भुत होने पर भी अन्य प्रकार के संगठनों की शक्ति उनमें बहुत कम थी। शाहजहाँपुर का संगठन प्रान्त भर में सबसे कमजोर था। पं. रामप्रसाद से बहुत-से लोगों की अच्छी तरह नहीं पटी। उनके स्वयं लिखने के अनुसार ही मैनपुरी षड्यंत्र के दिनों में बाहर उनपर अपने साथियों द्वारा ही गोली चलाई गई, किन्तु

वे भागकर नदी में कूद पड़े, तब कहीं उनके प्राण बचे। जब तक हम लोग बाहर थे, तब तक उनसे सबकी खूब निभी, किन्तु जेल में आने के पश्चात् उनके स्वयं लिखने के अनुसार नेताओं से उनकी खटपट बनी रही। इस खटपट ने, जहाँ तक उनका सम्बन्ध है, एक ऐसा रूप धारण किया जो कि एक जिम्मेदार नेता के कारण कभी नहीं उत्पन्न होना चाहिए था।

पं. रामप्रसाद अपनी आत्मकथा लिख गए हैं। यहं आत्मकथा क्या है। अपने लोगों की व्यर्थ बुराइयाँ है। उनमें शायद ही किसी व्यक्ति के लिए प्रशंसात्मक एक भी शब्द आया हो। प्रताप प्रेस से 'काकोरी के शहीद' नामक जो पुस्तक निकली थी, उसके पहले संस्करण में इस आत्मकथा का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था। फाँसी घर से पंडितजी ने एक दरखास्त चीफ कोर्ट को दी थी, जिससे कि उनके साहस पर धब्बा लगता है। यह दरखास्त चीफ कोर्ट के छपे हुए फैसले में उपलब्ध है।

इन सब बातों के होते हुए भी अर्थात् जेल में आकर उन्होंने चाहे जैसा रुख धारण किया हो तथा जैसी भी गलतियाँ की हों, यह मानना पड़ेगा कि वे हमारे षडयंत्र के प्रमुखतम नहीं तो सबसे प्रमुख व्यक्तियों में से एक थे। सामरिक विभाग तो उनके बिना किसी और से शायद चलाते ही न बनता। हम उनको दोष देना नहीं चाहते, किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि वे अनुभवी होते हुए भी लोगों की बातों में आ जाते थे और बिना समझे-बूझे ही कौन किस उद्देश्य से किसके यहाँ डकैती डलवाना चाहता है, झट बन्दूक तानकर और प्राण को हथेली पर रखकर कार्य करने के लिए तैयार हो जाते थे, और दूसरों को भी जो कि हमारे ऐसे उनके अधीन थे, उनमें सम्मिलित करते थे। कई बार उनको इस सम्बन्ध में अनुभव भी हुआ, किन्तु फिर भी वे अन्त तक नहीं सँभले।

यह बहुत सरल है कि हम इन व्यर्थ की डकैतियों का सारा दोष उनके सर पर मढ़कर अलग हो जावें किन्तु मैं ऐसा करना नहीं चाहता । मैं इनके लिए अर्थात् ऐसा करके हमने जो Tactical Blunders किए Moral नहीं, अपने को उतना ही जिम्मेदार समझता हूँ जितना की और लोग थे। आज कदाचित् समय की दृष्टि से बहुत दूर में कुर्सी पर बैठकर मैं इन बातों को इस दृष्टिकोण से देख पा रहा हूँ। उस समय उन बातों को इस दृष्टि से देखना न मेरे लिए सम्भव था न पं. रामप्रसाद के लिए ही। कुछ भी हो, हमें इसके लिए इस समय यह खेद है कि हमारी कर्म-शक्तियों का सबसे अच्छा उपयोग नहीं किया गया। इन सामरिक कामों का फिर भी एक अच्छा परिणाम हुआ, जिसको कभी भी छोटा नहीं समझा जा सकता, अर्थात् बहुत-से मनुष्य एक विशेष प्रकार से Trained अर्थात् शिक्षित हो गए, एक विशेष प्रकार का साहस उनमें आ गया। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि चन्द्रशेखर आज़ाद चन्द्रशेखर आजाद ही नहीं होते यदि उनको इस प्रकार की ट्रेनिंग न मिली होती। इन्हें गोरखपुर जेल में फाँसी हुई।

राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी

काकोरी षड्यन्त्र के सिलसिले में फाँसी पाए हुए चार व्यक्तियों में ये भी एक थे। सम्भवतः सन् 1922 या 1923 में आप क्रांतिकारी आंदोलन के संस्पर्श में आए। जिस समय आप गिरफ्तार हुए उस समय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पंचम वर्ष के छात्र थे। आप क्रांतिकारी दल के प्रमुख नेता थे। प्रान्त भर में निम्नलिखित व्यक्ति क्रांतिकारी दल की प्रांतीय कौंसिल के सदस्य थे: पंडित रामप्रसाद बिस्मिल, श्री सुरेशचद्र भट्टाचार्य, श्री विष्णुशरण दुबलिस, श्री राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी।

इनके अतिरिक्त जो लोग थे वे या तो सरकारी पिट्ठू बन गए थे या नाममात्र के सदस्य थे। एकाध नाम ऐसा भी है जिसका दिया जाना उचित नहीं है।

यद्यपि राजेन्द्र बाबू को सामरिक काम के सम्बन्ध में फाँसी हुई किन्तु सामरिक विभाग के वे कोई प्रमुख सदस्य नहीं थे। सच बात तो यह है कि उन्होंने दो ही तीन अवसरों पर सामरिक कार्यों में भाग लिया था। राजेन्द्र बाबू बहुत ही मिलनसार तथा बुद्धिमान व्यक्ति थे। जिस दिन 26 सितम्बर को सब लोग गिरफ्तार हुए उस दिन वे कलकत्ते में थे; वहीं से वे जैसा कि लिखा गया है, एक बम के कारखाने में गिरफ्तार हुए थे। पहले उस मुकदमें में दस वर्ष की सजा हुई किन्तु बाद में अपील में पाँच वर्ष की रह गई थी। वे उन मनुष्यों

में थे, जिनका कि कोई बहुत जबरदस्त भक्त तो नहीं था, किन्तु कोई उनके विरुद्ध भी न था। वे बनारस आदि कई जिलों के इंचार्ज थे। बनारस का नेतृत्व करना कोई खेल नहीं था, वरन् टेढ़ी खीर था। क्योंकि यहाँ के कई सदस्यों की पहुँच बहुत दूर-दूर तक थी तथा कुछ तो उनसे अधिक पुराने होने का तथा अन्य अनेक प्रकार के दावे कर सकते थे। सामरिक कार्य में तो उनके जिले के कई लोग उनसे निश्चित रूप से श्रेष्ठ थे। जहाँ तक नए सदस्यों को भर्ती करने का सम्बन्ध है उसमें भी शचींद्र बख्शी आदि कई व्यक्ति उनसे बढ़े-चढ़े थे। फिर भी वे इस डिवीजन के नेता तथा कौंसिल के प्रतिनिधि क्यों हुए— इसके ऐतिहासिक कारण हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करने से कहानी बहुत बढ़ जाएगी।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि राजेन्द्र बाबू—जहाँ तक साहस और त्याग का सम्बन्ध है—अपना नेतृत्व भली-भाँति निभाकर, अंत को सर्वोच्च त्याग कर गए। यह एक अजीब बात है कि उन्हें अन्य शहीदों से दो दिन पूर्व फाँसी हुई, औरों को 19 दिसम्बर सन्, 1927 को फाँसी हुई थी, किन्तु उन्हें 17 को इस संसार से विदा कर दिया गया। इसका क्या कारण है, यह सोचकर मैं हैरान रह जाता हूँ। उन्होंने बड़ी बहादुरी तथा धैर्य से फाँसी का सामना किया। मैंने सुना है कि फाँसी घर में कई बार पुलिस के बड़े-बड़े अफसर आकर उनको बड़े-बड़े प्रलोभन दिखलाते रहे, किन्तु उन्होंने उन सब बातों को ठुकरा दिया और उन लोगों को बहुत खरी-खोटी कहकर विदा किया।

राजेन्द्र बाबू में कुछ लिखने की शक्ति थी, यद्यपि वे साहित्यिक नहीं थे। बनारस के क्रांतिकारी दल की ओर से हस्तलिखित गुप्त पुस्तक निकलती थी, जो कि कई भाषाओं में होती थी। मैं इसका सम्पादक था। इसमें राजेन्द्र बाबू भी प्रमुख रूप से भाग लेते थे। उनके कई लेख बाँग्ला के 'शंख' में निकले थे। मुझे जहाँ तक स्मरण है, राजेन्द्र बाबू उन दिनों धर्म के विरुद्ध थे और मैं धर्म के पक्ष में। इसी बात को लेकर हमारी उस गुप्त पत्रिका में बहुत वाद-विवाद हुए थे। मेरा तो यहाँ तक विचार है कि राजेन्द्र बाबू उन दिनों नास्तिक थे, किन्तु जब मैंने इस बात के सम्बन्ध में उनके साथियों से पूछताछ की तो कुछ लोगों ने कहा कि वे नास्तिक थे और कुछ लोगों ने कहा नहीं। दुःख है इस बात का, जिस बात से निश्चित रूप से प्रमाणित हो सकता था अर्थात् हमारी गुप्त पत्रिका 'अग्रदूत' की वे फाइलें अब प्राप्त नहीं हैं, नहीं तो इस बात का निश्चित निराकरण हो जाता।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि राजेन्द्र बाबू चाहे पहले कुछ भी रहे हों, परन्तु शहीद होने के पूर्व उन्होंने फाँसी-घर से जो चिट्ठियाँ लिखी थीं उनमें स्पष्ट रूप से अपने को ईश्वरवादी बतलाया है। भारत की स्वाधीनता के इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा। इन्हें गोंडा में फाँसी हुई थी।

चन्द्रशेखर आज़ाद

चन्द्रशेखर आज़ाद एक अत्यंत साधारण परिवार में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम सीताराम तिवारी और माता का नाम जगरानी देवी था। आज़ाद बचपन से ही न्यायप्रिय और उच्च विचारों वाले थे। आज़ाद अपने गाँव भावरा (जिला उन्नाव) में चौथी जमात तक ही विद्यालय में पढ़े। आज़ाद के दादा मूल रूप से कानपुर के गाँव के रहनेवाले थे, पर आज़ाद के पिता स्वर्गीय सीताराम तिवारी की बाल्यावस्था मौजा बदरका, जिला उन्नाव में व्यतीत हुई।

मनोहरलाल त्रिवेदी के अनुसार चन्द्रशेखर की उम्र सात-आठ वर्ष की थी, तब मैं उन्हें पढ़ाया करता था। आज़ाद बचपन से ही न्यायप्रिय और उच्च विचारों वाले थे। एक बार मैं पढ़ा रहा था तो जानबूझकर मैंने एक शब्द गलत बोल दिया। इस पर आज़ाद ने वह बेंत, जिसे मैं उनको पढ़ाने में डराने और धमकाने को अपने पास रखता था, उठाया और मुझे दो बेंत मार दिए। यह देख तिवारीजी दौड़े और उन्होंने आजाद को इसके लिए पीटना चाहा, लेकिन मैंने उन्हें रोक दिया। पूछने पर आजाद का उत्तर था—"हमारी गलती पर मुझे और भाई को ये मारते हैं, तो इनकी गलती पर मैंने इन्हें मार दिया।"

'इस प्रकार समय गुजरता रहा। किसी प्रकार गुजर-बसर होती रही। इस बीच मेरा तबादला तहसील नानपुर को हो गया। करीब पाँच वर्ष तक मैं रहा, परन्तु भावरा आना-जाना बराबर बना रहा। फिर मेरी बदली खट्टाली गाँव को हो गई; तो मैंने आज़ाद को अपने पास ही रखकर उनके पढ़ने-लिखने की व्यवस्था कर दी। एक वर्ष बाद आज़ाद का यज्ञोपवीत संस्कार भावरा जाकर करवाया। जब बदली होने से मैं अलीराजपुर तहसील में आया, तब आज़ाद को अलीराजपुर तहसील में नौकरी करवा दी। वहाँ के तत्कालीन तहसीलदार श्री सीतारामजी अग्निहोत्री जिला कानपुर के थे। वे आज़ाद के परिवार की सच्चाई और ईमानदारी से भली-भाँति परिचित और प्रभावित थे, अतः उसकी आर्थिक परेशानी का वे पूरा-पूरा ख़याल करते थे। अलीराजपुर में आज़ाद मेरे साथ मेरे ही घर में रहते थे। एक वर्ष बाद मैं कार्यवश छुट्टी लेकर देश चला गया। मेरे वापस आने के एक महीने पहले ही एक सौदागर के साथ, जो बनारस से मोती बेचने अलीराजपुर आया हुआ था, आज़ाद बिना कुछ चार्ज-वार्ज दिए ही चले गए। तहसीलदार साहब के कृपापात्र थे, इसलिए उन पर विशेष कार्यवाही का मौका नहीं आया। आज़ाद की आयु उस समय लगभग पन्द्रह वर्ष की थी, इस प्रकार उनके चले जाने के दो वर्ष के बाद उनका पत्र मेरे पास आया कि वे बनारस में पढ़ रहे हैं और मैं फ़िक्र न करूँ। बाद में सन् 1922 में ही आज़ाद भावरा आए और पन्द्रह दिन माता-पिता के साथ रहे। उस समय भी मैं अवकाश पर घर जा रहा था। आज़ाद कानपुर तक मेरे साथ ही आए, कानपुर पहुँचने पर मैंने उनसे घर चलने को कहा जो उन्नाव जिले में है, परन्तु आज़ाद ने कहा कि उन्हें आवश्यक काम से किसी से मिलने जाना है, वह मिलकर फिर मेरे पास आएँगे। परन्तु फिर वे आए नहीं, कुछ महीनों तक तो पत्र-व्यवहार होता रहा। सन् 1923 से आज़ाद लापता रहे। इस बीच उन्होंने अपने विषय में कोई सूचना नहीं दी।''

सदाशिवराज मल्कापुरकर एकमात्र क्रांतिकारी थे जिन्हें उनके जीवनकाल में आज़ाद के गाँव को देखने को सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्हीं के शब्दों में घटना यों है—

''काकोरी षड्यंत्र (1925) में फरार घोषित किए जाने के बाद चन्द्रशेखर आज़ाद झाँसी आए और ओरछा के पास एक गाँव में हरिशंकर ब्रह्मचारी नाम से रहने लगे। यहीं से वे दल का फिर से संगठन करने लगे। गुप्त कार्य की आवश्यकताओं के अनुसार वह जब चाहे जैसे नाम से परिचित होते थे। एक दिन आज़ाद मेरे घर पर मुझसे बातचीत कर रहे थे। वे दल के विषय में ही बातचीत कर रहे थे, कैसे गुप्त बात रखी जाय, किसे विश्वास में लिया जाए इत्यादि। एकाएक उन्होंने कहा— 'सदू! चलो मेरे साथ मेरी जन्मभूमि देखने।' मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। मैंने विश्वास नहीं किया कि वे क्या कह रहे

हैं? पर उन्होंने कहा—'आशा है कि तुम इसे बिल्कुल गुप्त रखोगे।'

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि उन्होंने ऐसी बात कही और मुझे खुशी भी हुई। उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन के विषय में दल में किसी सदस्य को कुछ भी नहीं बताया था और हम इस उपसंहार पर पहुँचे थे कि उनके पिता-माता मर चुके हैं और वह गृहहीन व्यक्ति हैं। अब एकाएक पता लगा कि उनका एक घर है, उनके पिता-माता जीवित हैं, और मुझे उनसे मिलने का और उनके दर्शन करने का सौभाग्य होगा। यह बहुत बड़ी बात थी कि आज़ाद ने मुझे इस योग्य समझा था— यह हमारे लिए बहुत खुशी की बात थी क्योंकि दल के नियमानुसार कोई भी सदस्य अपने साथी के विषय में किसी प्रकार का कौतूहल नहीं रख सकता था। इससे मुझे बड़ा गर्व हुआ।''

यहाँ यह बतला दिया जाए कि आज़ाद के ग्राम में सदाशिवराव के जाने के बाद एक दिन भगतसिंह ने सदाशिवराव के सामने आज़ाद से कहा—''पंडितजी, आप हमें अपनी जन्मभूमि और रिश्तेदारों के विषय में बताएँ, ताकि कोई ऐसी-वैसी घटना हो जाए, तो हम उनकी सहायता कर सकें। देशवासियों को भी यह बता सकें कि शहीद कहाँ पैदा हुए थे इत्यादि।

सदाशिव को भगतसिंह द्वारा पूछे गए इस प्रश्न में किसी तरह की कोई गलत बात नहीं लगी, पर आजाद तैश में आ गए और व्यंग्य के साथ बोले— ''तुम्हारा सम्बन्ध मुझसे है या मेरे रिश्तेदारों से? मेरी पैदाइश और मेरे पिता-माता के सम्बन्ध में तुम्हें पूछने की क्या जरूरत? मेरे घर के लोग किसी की सहायता नहीं चाहते और न मैं यह चाहता हूँ कि मेरी जीवनी लिखी जाए। यदि तुम इस तरह बात करते हो, तो गोपनीयतावाली हमारी शपथ का क्या बनेगा?''

सदाशिव ने इस सम्बन्ध में भगतसिंह से उस बातचीत का इसलिए उल्लेख किया कि पाठक को पता चले कि आजाद ने किस प्रकार उन्हें सम्मानित किया था। वे लिखते हैं—

''भोपाल में मैंने उज्जैन का टिकट खरीदा और उज्जैन से नागदा होते हुए हम दोहद पहुँचे। यदि कोई साधारण यात्री होता, तो वह सीधा टिकट खरीदता, पर हमने एक जंक्शन से दूसरे जंक्शन तक का ही टिकट खरीदा, ताकि किसी प्रकार पता न लगाया जा सके। जब गाड़ी दोहद में अभी घुस ही रही थी, तो चन्द्रशेखर आज़ाद ने प्लेटफार्म पर आए हुए एक व्यक्ति को मनोहरलाल त्रिवेदी करके परिचित कराया। मेरे पास जो भी सामान था, उसे लेकर मैं प्रतीक्षालय की ओर गया और मनोहरलाल को बता दिया कि आज़ाद आए हैं। थोड़ी देर बाद आज़ाद आए और उन्होंने मनोहरलाल के चरण छुए, जो बिल्कुल रो पड़नेवाले ही थे। उन्होंने बताया कि आज़ाद के पिता-माता बिल्कुल ठीक हैं। हम एक

बस में चढ़े और भाबरा में मनोहरलाल के घर पर जाकर टिके। आज़ाद के पिता-माता भाबरा में ही रहते थे। हम लोग आज़ाद के घर के लिए रवाना होनेवाले थे, पर मनोहरलाल ने कहा—"अभी रुकिए, वह खुद आएँगे। उन्हें सूचना दी गई है।"

चन्द्रशेखर आज़ाद के लिए इनाम घोषित था, इसलिए इस चेतावनी का विशेष महत्त्व था। 'हम थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे और कछ ही समय के अन्दर हमने खिड़की के अन्दर से देखा कि वृद्ध सज्जन सफेद बाल और सफेद दाढ़ीवाले ऋषिकल्प व्यक्ति जल्दी-जल्दी हमारी तरफ आ रहे हैं। उनके शरीर के ढाँचे से साफ झलक जाता कि वे आज़ाद के ही पिता हैं। आज़ाद आगे बढ़े और पिताजी के चरण छुए। यह स्पष्ट था कि वृद्ध सज्जन अपने को सँभाल रहे थे, पर थोड़ी ही देर के अन्दर उनके गालों पर आँसू ढुलक पड़े और वे मिरगी रोगवालों की तरह सिसकने लगे। जब आज़ाद ने देखा कि पिताजी बिल्कुल बेकाबू हो रहे हैं, तो उन्होंने चेतावनी दी—"दादा, ओ दादा! वे यह बताना चाहते थे कि लोगों को यह मालूम न हो जाय कि मैं यहाँ पर हूँ, नहीं तो मुसीबत आ सकती है। उन्होंने जिस खास ढंग से जो 'दादा ओ दादा' कहा, उससे वृद्ध सज्जन समझ गए कि उनके पुत्र के सिर पर खतरे की कैसी तलवार लटक रही है। वह फौरन शान्त हो गए, मनोहरलाल की आँखों से आँसू जारी थे। उन्होंने पिताजी का हाथ पकड़ लिया और कहा—हम लोग भीतर के कमरे में चलें क्योंकि माताजी भी आती होंगी। इस धुँधलाते भय और छिपे खतरे के वातावरण में पिता और पुत्र एक दशक बाद मिले। कुछ समय बाद माताजी आईं और उन्हें फौरन भीतर कमरे में ले जाया गया। आज़ाद ने उनके पैर छुए और उन्हें बैठाया। माताजी ने आज़ाद के सिर को गोद में ले लिया और चुपचाप आँसू ढालती रहीं। उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। पता लगता है कि उन्हें यह मालूम था कि उनका लड़का किस प्रकार खतरे में डूबा हुआ है। इसलिए वे खुलकर रो भी न सकीं।

इस प्रथम मिलाई में ही मैंने यह देख लिया कि माताजी की दो अँगुलियाँ एक साथ चिपकी हुई हैं। उस समय मैंने यह सोचा कि शायद किसी तरह कोई सूत अटक गया है और अँगुलियाँ इस प्रकार दीख रही है। पर जब मैं आज़ाद के पारिवारिक घर में गया और देखा कि वह फर्श पोत रही हैं, फिर मैंने उन दो अँगुलियों को अस्वाभाविक रूप से जुड़ा हुआ देखा। तब मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि वे जान-बूझकर इस तरह बाँधी हुई थीं। बाद में मैंने आज़ाद से पूछा कि इसका क्या कारण है? तो उन्होंने बताया कि माँ ने दो अँगुलियों को इस प्रकार एक साथ बाँध रखा था—एक मन्नत के रूप में कि लड़का लौट आए तभी अँगुलियों को मुक्त किया जाएगा।

बुद्धिमानी का तकाजा यह था कि हम जल्दी-से-जल्दी भाबरा से निकल आते। मैं बराबर रहा था कि यदि किसी प्रकार किसी को यह पता लगा कि ब्रिटिश सरकार जिस क्रांतिकारी

नेता को पकड़ने के लिए आसमान और जमीन के कुलाबे मिला रही है, वे यहाँ, अपने माता-पिता से मिलने आए हैं तो यह हमलोगों के लिए भयंकर साबित हो सकता है। हर रोज हम भाबरा छोड़ने के लिए तैयार होते, और हर रोज पिता-माता ऐसी दर्दनाक स्थिति पैदा कर देते कि भाबरा छोड़ना असंभव हो जाता। यहाँ तक कि वीर शिरोमणि चन्द्रशेखर आज़ाद कमजोर पड़ जाते थे।

इन दिनों मेरी दिनचर्या इस प्रकार रहती थी कि हम आज़ाद के साथ पास कि पहाड़ियों में घूमने जाते थे और माताजी के द्वारा तैयार की हुई मिठाईयाँ, गुलगुले आदि खाते और खूब सोते थे। यहाँ तक कि आज़ाद मेरी नींद की दीर्घता से नाखुश रहते थे और खुलकर डाँटा करते थे। इसके जबाब में मैं यह कहता था कि माताजी मुझे इतना बढ़िया माल खिला देती है कि बिना सोए उन्हें हजम नहीं कर सकता। मैं दुविधा में पड़ गया। यदि मैं कम खाता तो माताजी बहुत नाराज होतीं। (यह बता दिया जाय कि मरने के दिन तक उन्होंने यह व्यवहार जारी रखा।) यदि मैं अधिक सोता तो हमारे नेता नाराज होते थे। ऐसी हालत में हमने यह तय किया कि माताजी को खुश रक्खूँ भले ही नेता नाराज रहें। स्वाभाविक रूप से जब मैं अधिक खाता था, तो सोता भी अधिक था।

भाबरा में हम मनोहरलाल के घर पर रहे। उन्होंने घर में हमारे भोजन का प्रबन्ध किया था। पहले दिन हम उन्हीं के घर पर खाये, यह दिखाने के लिए कि हम उनके मेहमान हैं। हम यह दिखाना नहीं चाहते थे कि आज़ाद अपने पिता-माता से मिलने आए हैं। पर माताजी इस बात को कब तक सहतीं? एक दिन वह आज़ाद पर बिगड़ गईं और बोलीं—तुमने यहाँ खाना क्यों खाया?

आज़ाद उन्हें समझाते रहे, पर उन पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। हमें दोपहर को ही नहीं रात को भी माताजी के यहाँ खाना पड़ा। मनोहरलाल चाय आदि ही पिलाकर संतोष करने पर मजबूर हुए।

उन दिनों भाबरा में गजराजसिंह एस.डी.ओ. थे। उन्होंने ही मनोहरलाल को समझाया था कि आज़ाद बखुशी गाँव में आ सकते हैं इसलिए स्वाभाविक तौर पर हम एक दिन एस.डी.ओ. साहब के घर पर गए। मैं भी आज़ाद के सहकारी के रूप में वहाँ पहुँचा। एस.डी.ओ. कुछ देर तक आज़ाद से बातें करते रहे, फिर हम लौट आए।

एस.डी.ओ. बिल्कुल विश्वासपात्र लगते थे। पर हम तो चोरी से काम करनेवाले क्रांतिकारी थे। हम चाहते तो यह थे कि हर व्यक्ति का विश्वास करें, पर जीवन के कटु तथ्यों ने हमें सिखाया था कि किसी का भी पूरा विश्वास न किया जाय। क्रांतिकारी का जीवन साधारण जीवन नहीं है। एक तरफ तो उसका जीवन सहधर्मियों के साथ मधुर है, तो दूसरी तरफ उसे बराबर काँटों पर चलना पड़ता है, नतीजा यह है कि उसके पैरों से

खून जारी रहता है और उसके रक्त की धारा को अविश्वास का जहर दूषित करता रहता है।

एक दिन यह खबर मिली कि एस.डी.ओ. के दफ्तर में कुछ असाधारण चहल-पहल है। मनोहरलाल घबरा गए। उन्होंने आज़ाद को अपने संदेह बताये, और यह कहा कि नित्य प्रति जितने सिपाही रहते हैं, आज उनसे कहीं अधिक सिपाही मौजूद हैं। आज़ाद फौरन भावरा छोड़ना चाहते थे, पर वर्षा हो रही थी। ऐसी हालत में कहाँ टिका जाय? हम बहुत परेशान हुए। मनोहरलाल ने ही आफत की खबर दी थी, पर वह साथ ही यह नहीं चाहते थे कि जंगल में भटककर-घूमकर भीगते रहें। पर ऐसे समय में भीगना और जरूरत से ज्यादा सावधान रहना इस बात की तुलना में अच्छा था कि क्रांतिकारी आंदोलन के कर्णधार को लेकर हमारी नाव पिता-माता के प्रेम में डूब जाय। अन्ततोगत्वा हमने मनोहरलाल के इस सुझाव को मान लिया कि उस रात जंगल में ही काँटें और यदि कोई बात नहीं हुई, तो हम प्रातःकाल बस से भावरा छोड़ दें।

अँधेरा हो चुका था और माताजी के यहाँ भोजन करना जरूरी था। यदि हम वहाँ नहीं पहुँचे, तो वह असंतुष्ट होंगी, साथ ही वह मनोहर के घर में दौड़कर आएँगी। यों घर कोई दूर नहीं था। अधिक-से-अधिक एक फर्लांग पर एक बाधा थी। वह बाधा यह थी कि घर पहुँचने के लिए हमें थाना और एस.डी.ओ. के दफ्तर से होकर गुजरना पड़ता था। हम उस रास्ते को बचाना चाहते थे, पर ऐसा हम कैसे कर सकते थे? अँधेरे का फायदा उठाकर हम रवाना हो गए, पर अभी हम कुछ ही कदम गए थे कि हमने सिपाहियों के चलने की बूट वाली मसमस आवाज सुनी। इससे हम चौकन्ने हो गए और ठहरकर यह देखने लगे कि स्थिति कैसी है। थोड़ी जाँच करने के बाद हमने देखा कि तीन सिपाही चर्र-मर्र करते आ रहे हैं, इनमें से दो के पास बन्दूकें हैं। आज़ाद ने मेरे हाथ पकड़ लिए और हिन्दी में कहा—दो।

दो का अर्थ था मुझे पिस्तौल दे दो। आजाद ने जेब में पिस्तौल रख ली और मुझसे कहा कि पीछे चलो। यों किसी मान में मैं उनका अंगरक्षक था। हम लोगों में यह एक तरह का बिना कहा समझौता था कि यदि कोई विपत्ति आई, तो मैं उससे निपटूँगा, ताकि उनको भागने का समय मिले। यही निश्चित कार्यप्रणाली थी, इसलिए मेरे पास भी एक पिस्तौल रहती थी।

पर यह अजीब बात है कि जब भी कोई संकट सिर पर आ जाता, तो वे सारी बातें भुला देते थे और स्वयं संकट का सामना करने के लिए कूद पड़ते थे। यदि उनसे कहा जाता कि आप ऐसा न करें, तो वे तैश में आ जाते थे। उन्होंने इसके पहले मेरे साथ एक या दो बार ऐसा व्यवहार किया था। इसलिए मुझे आश्चर्य तो नहीं हुआ, पर मुझे यह

तरीका पसंद नहीं था। वह गोली चलाने को तैयार थे, उनकी अँगुली घोड़े पर थी और मैं उनके पीछे-पीछे चल रहा था। हमारी गली एक सड़क से मिलती थी, जो चौराहे से जुड़ी थी। सिपाही उस चौराहे पर खड़े थे। उन्होंने हमको टोका और पूछा कि हम कहाँ जा रहे है। आज़ाद बिना रुके बोले कि हम फँलाने के यहाँ जा रहे हैं। उन्होंने एक पड़ोसी का नाम बता दिया। मेरी साँस बहुत जोर से चल रही थी, पर आज़ाद ने ऐसे व्यवहार किया मानो कुछ नहीं।

हम लोग एस.डी.ओ. के दफ्तर की ओर चले। सिपाही जहाँ के तहाँ बने रहे। दफ्तर के सामने से जाते हुए हमने यह देखा कि सचमुच वहाँ रोज से अधिक सिपाही थे। जब हम घर पहुँचे, तो हमने गाँव के ढंग पर अपनी कमीजें उतार लीं, हाथ धोये और खाने के कमरे में पहुँचे, जहाँ खाना परोसा जा चुका था। मैंने थाली को ऐसे रख लिया जिससे दरवाजे पर मेरी निगाह बनी रहे। एकाएक मुझे याद आया कि कमरे के बाहर हमारा कोट टँगा है और उसी में हमारा पिस्तौल है। मैं फौरन उठा और कोट ले आया। मैंने उसे अपने पास रखा। अभी तक हमने खाना शुरू नहीं किया था।

चौके के नियम के अनुसार मैंने दो बार नियम तोड़ा था—एक तो मैं चौके के बाहर गया था, और फिर कोट को इतने पास ले आया था। इससे पिताजी कुछ उद्विग्न हुए। उन्होंने यह प्रश्न किया कि क्या बात है? इस पर मैंने कहा "मैं देखना चाहता था कि थैली ठीक है या नहीं।"

इससे पिताजी को संतोष नहीं हुआ। आज़ाद परिस्थिति ताड़ गए और उन्होंने कहा—"दादा ओ दादा!"

दादा समझ गए और उन्होंने चुप्पी साध ली।

माताजी ने दादाजी को कहा आप भी खाने को बैठ जाएँ। कम-से-कम आप साथ तो दें, फिर वह आज़ाद से बोलीं "बेटा तुम खाते जाओ।" दादा ने बात नहीं मानी और कमरा छोड़कर चले गए। इस बीच मैंने यह देखा कि एक सिपाही दरवाजे के पास खड़ा है। मैंने आज़ाद को आँखों का इशारा दिया। आज़ाद ने सिपाही को ध्यानपूर्वक देखा। मैंने खाना शुरू कर दिया था। आज़ाद ने कहा "खाते रहो", पर वह स्वयं उठ खड़े हुए। माताजी बोलीं कि "यह क्या बात है, थाली पड़ी है और तुम खड़े हो। खड़े होकर मत खाओ। मैं जाकर देखती हूँ कि क्या मामला है।"

दादा बाहर गए और सिपाही से पूछा कि क्या मामला है। सिपाही ने बतलाया कि वह एक पड़ोसी के लिए खड़ा है। थोड़ी ही देर में पड़ोसी आया और दोनों चले गए। हमने खाना खा लिया और मनोहर के घर पर पहुँच गए। हमने जंगल में रात बिताना उचित समझा और अँधेरा होते ही खिसक गए।

गाँव से दो फर्लांग की दूरी पर एक छोटा-सा तालाब है। उसके चारों ओर छायादार बड़े-बड़े वृक्ष हैं। जंगल वहीं से शुरू होकर पहाड़ी में खो जाता था। तालाब के किनारे एक खंडहर-सा था, जिसमें शिवजी की एक मूर्ति थी। हमने वहीं रात बिताना तय किया। आजाद लेटे नहीं कि खुर्राटे भरने लगे, पर नींद से पीड़ित होने पर भी मैं सो न सका मेरे मन में तरह-तरह की परेशानियाँ थीं। एक घंटे के अन्दर मैंने देखा कि गाँव की तरफ एक कार गई। इसके थोड़ी देर बाद एक दूसरी कार गाँव की तरफ गई। मैंने कहा कि अब हद हो गई। मैंने आज़ाद को हिलाकर सारी स्थिति बताई, पर वह बिल्कुल ही विचलित नहीं हुए, बोले—"देखा जाएगा।"

इसके बाद वह फिर खुर्राटे भरने लगे। पर मैं कैसे सो सकता था? जरा भी पत्ता खड़कता तो मैं चौकन्ना हो जाता। पर आज़ाद बिना किसी फ़िक्र के गहरी नींद में सोते रहे। उस रात को एकाएक यह सत्य मुझ पर खुला कि किसी महान आदर्श के लिए विपत्ति के लिए तैयार रहना और बात है, पर प्राकृतिक भयहीनता और बात है। मैं लम्बी नींद लेने का आदी था, जिससे आज़ाद मुझ से नाराज होते थे, पर मैं जाग रहा था और फ़िक्र में डूबा हुआ था।

मैं सारी रात पिस्तौल हाथ में लेकर सावधान रहा और इस प्रकार सोचता रहा कि यदि दुश्मन इस तरफ से आया तो ऐसा करूँगा और उस तरफ से आया तो वैसा करूँगा। अँधेरा था, और में बराबर करवटें बदलता रहा। इस प्रकार जब मैं परेशानी में था, तो मुझे ऐसा लगा कि कोई लम्बी नरम-सी चीज चली गई तो मैंने फौरन आज़ाद से कहा—"जागिए, शायद कोई साँप है!"

आज़ाद नींद से तो जग गए, पर वह उठे नहीं। उन्होंने अँधेरे में टटोलकर देखा और कहा—"तुम फिजूल में परेशान हो रहे हो, कोई साँप नहीं है। सो जाओ।" पर मैंने कहा—"कृपाकर दियासलाई दीजिए।"

आजाद ने दियासलाई जलाई और यों ही चारों तरफ देखकर बोले—"कुछ नहीं है, सो जाओ। अभी रात बहुत बाकी है"—और वह फिर सो गए। मैं फिर सो न सका। उस समय मुझे यह समझ में आ गया कि क्यों कवि लोग रात्रि को अन्तहीन दिखाते हैं।

कुछ भी हो, रात खत्म हुई और आजाद बिलकुल ताजा होकर जग पड़े। थोड़ी देर में मनोहरलाल आए और बताया कि कोई खास बात नहीं है, फिर भी हमने यह तय किया कि अब यहाँ से चल देना चाहिए। हम मनोहरलाल के साथ बस स्टैण्ड पर पहुँचे, वहाँ हमारा सामान तैयार था। परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि माँ से मिलने का समय नहीं था। वह बिचारी मिठाइयाँ लेकर बैठी रहीं होंगी। मुझे मालूम नहीं कि आज़ाद को फिर कभी माँ के हाथों का बना खाना नसीब हुआ या नहीं।

आज़ाद गाँव में चौथी जमात तक ही विद्यालय में पढ़े। इसके बाद जैसा कि हम बता चुके हैं—एक कर्मचारी को आज़ाद के परिवार की भयंकर गरीबी पर दया आ गई और उन्होंने उस बालक को एक नौकरी में लगा दिया। ऐसा लगता है कि इस नौकरी के कारण आज़ाद एकाएक सजग हो गए कि उनके चारों तरफ अब जंजीरें आ रही हैं और उन्हें अब भाग लेना चाहिए। जब बुद्ध को सन्तान की प्राप्ति हुई, तब उनकी जो हालत हुई होगी, वही उनकी हुई। उन्होंने ऐसा देखा कि वह पानी में खड़े हैं और पानी की सतह हर क्षण बढ़ रही है। उन्होंने चारों तरफ देखा कि भागने का कोई सिलसिला बन सकता है या नहीं। इसी बीच गाँव में नकली मोतियों का एक व्यापारी आया। वह व्यक्ति उन्हें मुक्त आत्मा की तरह लगा क्योंकि वह एक गाँव से दूसरे गाँव नकली मोती बेचता हुआ घूमता रहता था। आजाद ने फौरन यह तय किया कि इस व्यक्ति के साथ भाग चला जाय। उन्होंने इस व्यक्ति को अपना पथ-प्रदर्शक तो बना लिया पर जैसा कि हम देखेंगे कि उन्होंने उसे अपना दार्शनिक नहीं माना। उन्होंने अपने गाँव से विदाई ली, उस समय विदाई ली जबकि उसमें उनका स्थायी स्थिर स्वार्थ पैदा हो चुका था। यहाँ से उन्होंने दुबकी लगाई, तो वह बंबई पहुँचे।

बंबई पहुँचने पर वह जल्दी समझ गए थे कि नकली मोतियों का वह फेरीवाला कोई अच्छी सोहबत नहीं है, इसलिए उन्होंने अपनी गाड़ी को उसके इंजन से अलग कर लिया और एक अलग खेमा गाड़ लिया।

अब उनके सामने रोटी-रोजी का सवाल आया, तो वह बंबई की गोदी में नौकर हो गए। पहले वह भुने हुए चने पर गुजर करते रहे, पर वह जल्दी ही समझ गए थे कि इससे काम नहीं चलेगा। वह जल्दी ही स्वयं भोजन बनाने लगे, पर एक बेचैन आत्मा के लिए चूल्हा-चक्की बहुत बड़ी जहमत थी, इसलिए वह सस्ते होटलों में खाना खाने लगे। संध्या समय वह किसी सिनेमा में पहुँच जाते थे। सिनेमा देखने का उद्देश्य यह था कि ज्यों ही वह अपनी खोली में पहुँच जाएँ, त्योंही ही नींद आ जाय। फरारी के दिनों में फरार साथी उन्हें हमेशा कहते थे कि चलिए सिनेमा देख लीजिए, पर वह हमेशा उसका यह उत्तर देकर टाल देते थे कि बंबई-जीवन के दौरान मैंने इतनी फिल्में देखीं कि अब मुझे उनके प्रति अरुचि पैदा हो गई है।

सिनेमा न देखने का एक कारण यह था कि उनमें खुफिया पुलिस के लोग भरे होते हैं। भगतसिंह के साथियों में एक महत्त्वपूर्ण फरार विजयकुमार सिन्हा सिनेमाघर में ही पकड़े गए। विजय बदनाम सिनेप्रेमी थे।

बंबई-जीवन में चन्द्रशेखर आज़ाद केवल हफ्ते में एक-बार नहा पाते थे। उन्होंने बोरियत से बचने के लिए बंबई में सिगरेट पीना सीखा, जैसा कि करीब-करीब सब मजदूर करते

है। वह अब संपूर्ण रूप से मुक्त थे। परिवार का कोई दबाव नहीं था, और ब्राह्मण होने से यहाँ कोई लाभ नहीं था। वह जल्दी ही समझ गए कि कुली बने रहना उद्देश्य नहीं है। वह काफी देख चुके। वह समझ गए कि उन्हें ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पर कहाँ और कैसे? कुछ दिनों के बाद उन्होंने वाराणसी जाकर अध्ययन करने का संकल्प लिया। यह एक ऐसा जुआ था, जिसमें किसी प्रकार की कोई हानि नहीं थी, लाभ-ही-लाभ था। उन्हें किसी ने यह बता दिया कि एक ब्राह्मण बालक के नाते उन्हें वाराणसी में संस्कृत पढ़ने का मौका मिलेगा और उन्हें रहने और खाने के लिए हिंदू दानियों से मदद मिलेगी।

उनका बंबईवाला जीवन एक तरह का मध्यांतर वाला जीवन था। उन्हें शहरी जीवन की बहुत अतरंग झलक मिल चुकी थी, पर इससे उन्हें कुछ खुशी नहीं हुई। शहरों में गावों की तुलना में अँधेरा कम था, इसलिए वहाँ शोषण के कोल्हू अच्छी तरह दृष्टिगोचर थे। मजदूर का जीवन भारतीय किसान के जीवन से कहीं श्रेष्ठ था। उसका मानसिक क्षितिज व्यापकतर हो गया, पर शोषक उनकी गर्दन पर सवार रहे। कम-से-कम जब उन्हें ऐसा अनुभव होने लगा क्योंकि उनकी अनुभूतिशीलता बढ़ चुकी थी। कुछ भी हो चन्द्रशेखर आजाद अपने बंबईजीवन के विषय मे किसी को कुछ भी नहीं बताते थे, और आज तक परिस्थिति यह है कि उनके जीवन का यह एक अँधेरा कोना बना हुआ है।

बहुत कम उम्र में ही चन्द्रशेखर आजाद ने मिथकों और चालू संस्कारों पर हँसना सीखा था। उन्होंने मुझसे हँसकर यह बताया था कि बचपन में उन्हें शेर का माँस यह समझकर खिलाया गया था कि इस प्रकार वे शेर की तरह साहसी हो जायेंगे। उस जमाने में भारत में विशेषकर मध्य भारत के जंगलों में शेर ही शेर थे और शेर का मांस (शायद चवन्नी भर सूखा माँस हो) खिलाना वन्यजीवन की रक्षा के मार्ग में नहीं आता था।

दिसम्बर, 1921 में खरे घाट नामक एक पारसी मजिस्ट्रेट काशी के सारे राजनीतिक मामलों को निपटाता था। यद्यपि उसके सामने जो भी मुकद्दमे आते थे, वे स्पष्ट रूप से राजनीतिक मुकद्दमे थे, फिर भी ब्रिटिश सरकार की नीति इतनी ढोंग और ढकोसलों से भरी थी कि यह दिखाया जाता था कि उनके सामने का अभियुक्त राजनीतिक नहीं है। अधिकांश अभियुक्तों को 107 दफा के अनुसार सजा इस नाते दी जाती थी कि वे सड़क के यातायात को रोक रहे है। दूसरों को 144 तोड़ने की सजा दी जाती थी, जिसके अनुसार 5 व्यक्तियों का एकत्र होना गैर कानूनी था। जिन पर मुकद्दमा चलता था, वे अदालत के साथ असहयोग कर रहे थे और कोई सफाई नहीं देते थे, इसलिए मिस्टर खरे घाट को कोई दिक्कत नहीं थी। जो लोग इस प्रकार खरे घाट के सामने लाए जाते थे, उनको यह हिदायत थी कि वे जलियाँवाला बाग हत्याकांड और खिलाफत के प्रति न्याय के बहाने से अदालत से असहयोग करें।

जब भी युवक पारसी मजिस्ट्रेट खरे घाट के सामने कोई असहयोगी पेश होता था, तो वह यही बयान देता था कि हम अमुक-अमुक कारण से सरकारी अदालत के साथ सहयोग नहीं करेंगे। इस पर युवक मजिस्ट्रेट हँस देता और सजा सुनाता था। जिस समय मैं 1921 में खरे घाट के सामने पेश हुआ, तो उसने मुझसे जो कुछ भी पूछा उसके उत्तर में मैने केवल एक ही बात कही कि मै इस अदालत से सहयोग नहीं करता। इस पर मुझे तीन-महीने की सादी कैद दे दी गई, पर जब चन्द्रशेखर आजाद, जो इस समय तक चन्द्रशेखर थे, अदालत के सामने पेश हुए तो उन्होंने वह रटा-रटाया बयान नहीं दिया। या तो उन्हें सिखाया नहीं गया था या उन्होंने सीखने से इनकार किया था। कुछ भी हो, अदालत में इस प्रकार बातचीत हुई—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम आज़ाद"

"तुम्हारे पिता का क्या नाम?"

"स्वाधीन"

"तुम्हारा घर?"

"जेलखाना"

युवक मजिस्ट्रेट खरे घाट को ये उत्तर गुस्ताखी के लगे, और उसने चिढ़कर 15 बेंत का हुकम दिया। यथासमय आज़ाद को 15 बेंत लगे, और उन्होंने हर बेंत पर चिल्ला कर कहा—"महात्मा गांधी की जय।"

उसी दिन से बालक चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर आज़ाद कहलाने लगे। नेहरू ने आनेवाली पीढ़ियों के लिए चन्द्रशेखर आज़ाद की जो प्रतिमा छोड़ी है, उसकी आलोचना करने के पहले मैं यह बता दूँ कि नेहरू के तथ्य भी गलत हैं। उदाहरणस्वरूप आज़ाद को जेल के अनुशासन भंग के लिए बेंत नहीं लगे थे बल्कि उन्हें पिकेटिंग के लिए बेंत की सजा मिली थी। यह सजा इन्हें वाराणसी केन्द्रीय जेल में दी गई थी, जहाँ गंडा सिंह जेलर थे। बाद को गंडा सिंह ने मुझे इस बेंत लगने के संबंध में एक चश्मदीद गवाह के रूप में अपना वर्णन दिया था।

1933-34 में मैं फतेहगढ़ सेन्ट्रल जेल में था। ज्योंही मैने गंडा सिंह के सामने आज़ाद का नाम लिया, त्योंही वह चिन्तित लगे और बोले—"हाँ, हाँ, मुझे उनके चेचक के दागवाला चेहरा याद है। मै फौरन पहचान गया कि यह व्यक्ति क्रांतिकारी है।"

इसमें संदेह नहीं कि जब गंडा सिंह के सामने आज़ाद को बेंत लगे थे, उस वक्त आज़ाद में क्रांतिकारी संभावना थी, पर वह अभी क्रांतिकारी दल के सदस्य नहीं हुए थे। चन्द्रशेखर आज़ाद कभी जेल में, सिवाय एक दो रात के हवालाती के रूप में रहे नहीं

थे। एकमात्र मुकदमा जो उन पर चला था उसका मैं ज़िक्र कर चुका। इसलिए जेल अनुशासन के भंग का प्रश्न ही नहीं उठता। नेहरू एक मिथक को लेकर उड़े। मैंने चन्द्रशेखर आज़ाद की जो पहली जीवनी लिखी थी उसमें बेंत कैसे लगा, यह स्पष्ट किया गया था। मुझे जो सबसे अधिक गुस्सा लगा था, वह इस कारण था कि नेहरू ने क्रांतिकारियों को फासिस्ट कहा था। बजरंगबली द्वारा प्रकाशित उस पुस्तक में मेरा प्रतिवाद था। मैं स्वयं जाकर पुस्तक आनन्द भवन में नेहरु के हाथ में दे आया था।

नेहरू के लिए यह बहुत ही भोंडा और गलत था कि वह क्रांतिकारियों के संबंध में आतंकवादी शब्द का प्रयोग कर गए हैं। सच्ची बात तो यह है कि भारतीय क्रांतिकारियों ने कभी आतंकवाद में आस्था नहीं रखी, रहा यह कि वे यदाकदा प्रत्यातंक के कार्य करते थे, यह बात सही है। ऐसा वे इसलिए करते थे कि सरकार के आतंक का थप्पड़ के बदले घूँसे के रूप में कभी-कभी जवाब दिया जाय। नेहरू ने बहुत ही गलत तरीके से क्रांतिकारियों को फासिस्ट कहा। न केवल उनका यह अभियोग गलत है, बल्कि इसके विपरीत ऐतिहासिक तथ्य यह है कि क्रांतिकारियों ने ही सबसे पहले समाजवाद को ग्रहण कर उसे सक्रिय राजनीति में परिणत किया। नेहरू ने अपने को 1921 की लाहौर कांग्रेस में समाजवादी और प्रजातंत्रवादी घोषित किया, पर इससे बहुत पहले विदेशों में रहनेवाले क्रांतिकारी समाजवाद को अपनाकर लेनिन के साथ काम कर चुके थे। मादाम कामा 1907 में स्टुटगार्ट अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में गई थीं। नेहरू ने तो समाजवाद का नारा इसलिए दिया था कि वामपक्षियो का बज्र चुरा लिया जाए, पर एम. एन. राय आदि क्रांतिकारी समाजवाद के लिए संघर्ष में लगे हुए थे जैसा कि 1922 के पेशावर षड्यंत्र, 1924 का कानपुर षड्यंत्र और 1921 के मेरठ षड्यंत्र से जाहिर है। आजाद और भगतसिंह प्रतिबद्ध समाजवादी थे।

कुछ भी हो, नेहरू ने अपनी आत्मकथा में चन्द्रशेखर आज़ाद की जो छवि प्रस्तुत की है, वह न केवल तथ्यात्मक रूप मे गलत है, बल्कि उन्होंने आज़ाद तथा दूसरे क्रांतिकारियों के आंदोलन की जो व्याख्या की है, वह भी ईर्ष्यापूर्ण है। नेहरू ने यह अपव्याख्या क्यों की, यह बिलकुल स्पष्ट है। भारतीय रंगमंच पर एक वास्तविक पूर्ण क्रांतिकारी के रूप में अपने को दिखाना चाहते थे और वे उन सारी बातों और व्यक्तियों को नीचा दिखाना चाहते थे, जिनसे उनकी यह छवि किसी प्रकार बिगड़ती थी।

बेंत खाने के बाद चन्द्रशेखर आज़ाद को तीन आने यानी बाद के 19 पैसे दिये गए, जो उस ज़माने में एक दिन के राशन का मूल्य समझा जाता था। आज़ाद ने ये तीन आने पैसे जेलर के मुँह पर दे मारा और वह पैदल चलकर गौरीशंकर शास्त्री के घर पर पहुँचे, जहाँ उनकी मरहम-पट्टी की गई।

ज्ञानवापी में बहुत बड़ी सभा हुई, जिसमें वीर बालक आज़ाद को बधाई दी गई। उन दिनों ज्ञानवापी और टॉउनहाल में ऐसी सभाएँ हुआ ही करती थीं। इन सभाओं मे स्वतःस्फूर्त रूप से हजारों की संख्या में लोग आते थे। मैं स्वयं उस सभा में मौजूद था जिसमें आज़ाद की अभ्यर्थना की गई थी। पर मुझे यह याद नहीं है कि कौन वक्ता थे और वे क्या बोले थे, पर मुझे ऐसा याद है कि व्याख्यानों के बाद आज़ाद को खड़ा किया गया। सभा बहुत बड़ी थी और आज़ाद बहुत छोटे थे, इसलिए आज़ाद को एक मेज पर खड़ा किया गया ताकि लोग उनका दर्शन कर सकें। जब लोगों ने आज़ाद को देखा, तो वे बहुत जोरों के साथ जय-जयकार बोलते रहे। आज़ाद ने कुछ वाक्य कहे, पर मुझे याद नहीं कि उन्होंने क्या कहा। आज़ाद को मालाओं से इस तरह लाद दिया गया था कि वह करीब-करीब दिखाई नहीं पड़ रहे थे।

जब महात्मा गाँधी ने 1921 में असहयोग आंदोलन शुरू किया, तो भारतीय क्रांतिकारी अपनी इच्छा से चुप हो गए।

चन्द्रशेखर आज़ाद असहयोगी होने के पहले क्रांतिकारी नहीं थे। वह पहले-पहल असहयोगी के रूप में ही राजनीतिक जीवन का सूत्रपात करते है और इसमें कोई संदेह नहीं कि वह एक पुख्ता असहयोगी थे। गाँधीजी ने यह कहा था कि 1921 के दिसम्बर तक स्वराज्य हो जाएगा, पर यह दिन निकल गया। इससे किसी असहयोगी का मनोभंग इस कारण नहीं हुआ कि उस समय तक वे युद्ध में मस्त हो गए थे और हरेक के मन में यह आस्था थी कि आज नहीं कल, हमारी विजय होकर रहेगी। यद्यपि उस समय ट्रांजिस्टर नहीं थे, फिर भी हमारे गाँव शताब्दियों की निद्रा के बाद एक-एक अंग करके जागृति की ओर जा रहे थे।

उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले का एक मामूली निद्रालु गाँव एकाएक अखबारों में प्रसिद्ध हो गया। 1922 की 5 फरवरी को वहाँ निहत्थे किसानों का एक शांतिपूर्ण जुलुस निकल रहा था। पुलिसवाले उन पर हावी हो गए और उन्होंने इन पर गोली चलाई। तीन आन्दोलनकारी—दो हिन्दू और एक मुसलमान मारे गए। बहुत से घायल हुए। इसके विरोध स्वरूप उग्रभीड़ ने चौरीचौरा पुलिस थाने को फूँक डाला। इस घटना से क्षुब्ध गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन रोक दिया।

मेरा मत है कि यदि गाँधी आन्दोलन की गाड़ी को स्वभाविक रूप से अपनी क्रांतिकारी पटरी पर चलने देते तो भारत का हर गाँव चौरी-चौरा हो जाता और भारत को लगभग 24 साल पहले ही स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती। पर गाँधीजी क्रांतिकारियों से चिढ़ते थे और वे कथित अंहिसा से स्वराज्य पाने में विश्वास करते थे।

यह स्पष्ट है कि गाँधी स्वराज्य प्राप्त के सम्बंध में इतने उतावले नही थे जैसा कि

वह कथित सत्य और अहिंसा के प्रयोग के संबंध में गंभीर थे। इस विचार को बल पहुँचाने के लिए कुछ गाँधीवादियों ने यह तर्क पेश किया है कि हिंसा से (उन्हें क्रांति शब्द से चिढ़ है) जो कुछ प्राप्त होगा, उससे बाद में जटिलताएँ पैदा होंगी। यदि यह मान लिया जाय कि भारत को अहिंसा के जरिए आज़ादी मिली, जैसा कि गाँधीवादी और उनके साथी दावा करते हैं, तो आज़ादी के बाद जो छवि सामने आयी, उसके विश्लेषण से क्या ज्ञात होता है? प्रश्न यह है कि भारत और पाकिस्तान में जो नेता आजादी के बाद सामने आए क्या वे लेनिन, माओ, हो ची मिन्ह, स्तालिन से अच्छे रहे? लेनिन और स्तालिन ने एक पिछड़े हुए सामन्तवादी देश रूस को बदलकर एक महाशक्ति बना दी। यही कार्य माओ ने भी किया। हो ची मिन्ह की निःस्वार्थ सेवाओं का तो जवाब नहीं था। निरविच्छिन्न नैतिक प्रतिमानों से ये नेता, जिन्हें गाँधी हिंसक नेता कहेंगे, वैयक्तिक रूप से नेहरू, मुरारजी, इंदिरा, लियाकत अली, अय्यूब, भुट्टो से अधिक ईमानदार थे या नहीं?

जो कुछ भी हो, जब गाँधीजी ने चौरीचौरा की हत्याओं के नाम पर असहयोग आंदोलन की बत्ती गुल कर दी, तो उससे चन्द्रशेखर आज़ाद ऐसे कृतसंकल्प व्यक्तियों के मन में बड़ा संदेह उत्पन्न हुआ, क्योंकि उन्होंने यह सोचा था कि अंत तक लड़ते रहना है, देश को स्वाधीन कराना है या मरना है। इस स्थिति मे ऐसे लोगों को बहुत कष्ट पहुँचा, क्योंकि गाँधीजी ने छूटे हुए असहयोगियों से (उनकी संख्या सैकड़ों में थी) यह कहा कि आप चरखा और करघा में लग जाएँ। यह एक तरह से निराशा की पराकाष्ठा थी और जिन लोगों ने गाँधीजी को साक्षात् ईश्वर मान लिया था, उनके अलावा सभी लोगों का उन पर से विश्वास उठ गया।

चन्द्रशेखर आज़ाद का गाँधीवादी से क्रांतिकारी हो जाना किसी भी तरह एक शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया नहीं थी। आजाद पूर्णरूप से कर्मवीर थे। वे खड़े रहना पसंद नहीं करते थे। गाँधीजी ने जो एकाएक आंदोलन बंद कर दिया, उससे आज़ाद की स्थिति एक कटी हुई गुड्डी की तरह हो गई। पुराने जीवन में लौट जाना संभव नहीं था क्योंकि उसका अस्तित्व ही नहीं रह गया था। वह अपनी सारी नावें जला चुके थे।

धनी देशभक्त शिवप्रसाद गुप्त ने आज़ाद से कहा कि तुम आकर मेरे घर पर रहो। पर आज़ाद ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे दो-एक दिन शिवप्रसाद गुप्त के यहाँ रहे, पर जल्दी ही रस्सी तुड़ाकर भाग गए, क्योंकि उससे उनकी गतिविधि की स्वतंत्रता नष्ट होती थी। इस समय तक वे यह समझ चुके थे कि संस्कृत-व्याकरण घोटने या उस पर मगज मारने का कोई अर्थ नहीं होता। इससे उनको वह लक्ष्य नहीं प्राप्त होता था, जो धीरे-धीरे उनके मानस में मूर्त हो रहा था। वे गाँधी विद्यालय में भर्ती हो गए। मैं भी वहाँ पर छात्र था। उन दिनों विद्यालय वाराणसी के मदैनी में एक तीन मंजिलवाली इमारत में चालू था।

वीर बालक के रूप में उन्हें सब जानते थे, छात्र और शिक्षक सब उनको सराहते थे, पर संस्कृत पढ़ने में जो समय उन्होंने खोया था, उससे उनको यहाँ कुछ लाभ नहीं हुआ और उन्हें एक नीची श्रेणी में भर्ती होना पड़ा। जब मैं बरामदे में इधर-उधर जाता था तो देखता था कि वे ऐसे छात्रों में नम्रता के साथ बैठे हैं, जिनकी उम्र तथा लम्बाई उनसे आधी थी। मुझे यह बात नहीं रुची और स्पष्ट है कि उन्हें भी नहीं रुची।

जबलपुर के एक परिवार में आया हुआ प्रणवेशचटर्जी भी यहाँ छात्र था। वह भी 1921 में जेल गया था। अब वह क्रांतिकारी दल का सदस्य था। उसने आज़ाद के साथ दोस्ती की। आज़ाद जल्दी ही स्कूल छोड़ गए। वे यह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे कि शिक्षा में एक-एक इंच करके आगे बढ़ें। इस समय तक उन्हें हिंदी का अच्छा ज्ञान हो गया था और अखबारों को पढ़ते रहने से राजनीतिक ज्ञान भी बहुत बढ़ गया था। रहा रेखागणित और एलजबरा इससे वंचित रहने के कारण उन्हें किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। उस समय राजनीतिक मैदान स्वराज्य दल और अपरिवर्तनवादियों के चोंचलों के कारण बहुत गर्म था और उस समय निरन्तर जो सभाएँ इस या उस मतवाद के समर्थन में हो रही थीं, उनमें आज़ाद जाया करते थे, वे जल्दी ही इतना जान गए जिससे वे अपना रास्ता तय कर सकते थे।

प्रणवेश ने आज़ाद के साथ सम्पर्क बराबर कायम रखा। यहाँ तक कि उस वक्त भी कायम रखा, जब कि आज़ाद विद्यालय छोड़ गए। आज़ाद किसी जगह पर मुफ्त में रहते थे और खाते क्या थे यह वही जाने। इन दिनों उनका मुख्य कार्य यह था— कारमाइकल पुस्तकालय में जाकर सारे अखबार पढ़ना और राजनीतिक सभाओं में जाकर व्याख्यान सुनना। जब प्रणवेश ने कुछ परिचय के बाद यह खोला कि वह एक क्रांतिकारी दूत है, तो आज़ाद ने उसका विश्वास नहीं किया। प्रणवेश ने उन्हें हिंदी की कुछ पुस्तकें दी थीं, जिन्हें आज़ाद चाट गए थे। हम लोगों ने इस संबंध में एक कार्यक्रम बना रखा था कि किस प्रकार अच्छे चरित्रवाले युवकों को क्रांतिकारी साहित्य दिया जाय। पहले *आनंदमठ* उपन्यास दिया जाता था। इसके बाद वीरों और शहीदों की जीवनियाँ दी जाती थीं। चाहे अपने देश के वीर हों या दूसरे देशों के। जब हम यह देखते थे कि नवयुवक कुछ दिलचस्पी ले रहा है, तो उसे खुलकर क्रांतिकारी शहीदों की जीवनी दी जाती थी। दुर्भाग्य से हिंदी में उन दिनों (1922-23) बहुत अच्छी पुस्तकें नहीं थीं। हमारे गुप्त पुस्तकालय में बंगला में अधिक अच्छी पुस्तकें थीं, जैसे शचीन्द्रनाथ सान्याल का 'बन्दी जीवन'।

प्रणवेश और आज़ाद की भेंट अजीब स्थानों में होती थी— जैसे मशानघाट। आज़ाद में दिलचस्पी बढ़ रही थी, पर कई बार मिलने के बाद और कुछ पुस्तकें पढ़ने के बाद प्रणवेश को ऐसा लगा कि आज़ाद के मन में कुछ प्रतिरोध है। यह प्रतिरोध हिंसा या अहिंसा

के विषय में नहीं, बल्कि और ही कोई बात थी। प्रणवेश का यही ख़याल था कि कोई बड़ा तोपखाना काम में लाया जाए, इसलिए उसने मुझसे कहा कि तुम अपना भाग्य आजमाओ। इसलिए उनके और मेरे बीच एक भेंट की योजना बनी और प्रणवेश ने यह कहा कि मैं किसी बहाने से चला जाऊँगा और तुम बातचीत करना। मणिकर्णिका मशानघाट पर यानी उसकी सीढ़ियों पर हम लोग मिले। वहाँ गंगा के किनारे लाशें बराबर जलती दिखाई दे रही थीं। पता नहीं कैसे थोड़ी ही देर में मुझे यह महसूस हुआ कि मेरा और उनका मन एक ही स्वर में बँध गया है और हमें अधिक बातचीत करने की जरूरत नहीं रही।

किसी प्रकार का औपचारिक समारोह या दस्तखत आदि नहीं हुए। वे हम लोगों के सदस्य हो गए और उसी दिन से उनका जोश सर्वत्र दिखाई पड़ने लगा। उनका जोश इतना अधिक था कि रामप्रसाद 'बिस्मिल' ने उनका नाम 'पारा' रख दिया।

प्रणवेश चटर्जी, जो आज़ाद को दल मे परिचित कराने के लिए जिम्मेदार था, बाद को बहुत कमजोर प्रमाणित हुआ। मै यह नहीं चाहता कि भविष्य में उसका नाम इस पुस्तक में आए, इसलिए घटनाओं से आगे जाकर मैं यह बता देना चाहता हूँ कि 1924 में जब काकोरी षड्यंत्र चला, तो वह भी उसमें अभियुक्त बनाया गया। 18 महीने तक , जब तक यह मुकद्दमा चलता रहा, वह बराबर अजीब व्यवहार करता रहा, और उसे समझाने और साथ रखने के लिए हम लोग कई तरह से उसकी खुशामद करते थे और व्याख्यान देते थे। पर ज्यों ही मुकद्दमा समाप्त हो गया, वह दूसरों से अलग कर दिया गया और उसके सिर पर से सामूहिक नैतिक छतरी उतर गयी, त्यों ही वह टूट गया। उसने एक बयान में अपने सारे कारनामे बता दिये, संभव है कि उस बयान में पुलिसवालों के द्वारा बताई हुई कुछ नई बातें भी हों। हमने विश्वस्त सूत्रों से सुना कि योगेश चटर्जी तथा मुझे लेकर एक नया षड्यंत्र चलाया जाएगा और उसमें मुझे और आज़ाद को भी फँसा जाएगा। पर ऐसा लगता है कि पुलिसवालों ने बाद को चलकर राय बदल दी, क्योंकि उन्होंने यह देखा कि यदि मुकद्दमा चलेगा, तो उससे हमारी सजायें बढ़ तक जाएँगी, पर हमें फाँसी नहीं दी जा सकती। छूटने के बाद भी प्रणवेश शक्की बना रहा। परिवार के साथ उसका तालमेल नहीं बैठा और वह एक काम से दूसरे काम में छलाँग लगाता रहा। कहा जाता है कि अंत में आकर अज्ञात परिस्थितियों में उसने आत्महत्या कर ली।

चन्द्रशेखर आज़ाद का मन पढ़ने में अधिक नहीं लगता था। अक्सर हमें ऐसा संदेह होता था कि हम उन्हें पढने के लिए जो पुस्तकें देते थे, वे उन्हें पूरी तरह बिना पढ़े लौटा देते थे। इस मामले में उनका स्वभाव भगतसिंह के बिल्कुल विपरीत था। भगतसिंह पूर्णरूप से पुस्तक-कीट थे, जैसा कि शिव वर्मा ने बताया है कि हमेशा उनके पास कुछ नई पुस्तकें

होती थीं। पर आज़ाद के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वे शेक्सपीयर की भाषा में, बहती हुई नदियों से पुस्तकें, पत्थरों में उपदेश और हर चीज से भलाई ग्रहण करते थे।

साथियों में हर समय जाने किन-किन विषयों पर बहुत गरम बहसें होती थीं। वे उन्हें बहुत ध्यान से सुना करते थे और हंस की तरह वह पानी का पानी और दूध का दूध ग्रहण कर लेते थे। वे पहचान जाते थे कि कौन-सा दृष्टिकोण क्रांतिकारी है। इस प्रकार उनमें सहजात बुद्धि थी कि गलत चीज को वह पहचान जाते थे, उसके कारण वे हमारे अध्ययनशील साथियों से एक या दो कदम बराबर आगे ही दिखाई देते थे।

आज़ाद का धीरे-धीरे काशी के सब महत्वपूर्ण क्रांतिकारियों जैसे राजेन्द्र लाहड़ी, शचीन्द्रनाथ बख्शी, रवीन्द्रमोहन कर, कुन्दनलाल, बजरंगबली गुप्त, महावीरसिंह, मनमोहनगुप्त आदि से परिचय कराया गया। क्रांतिकारी दल कोई क्लब नहीं था, जिसमें आते ही पहले दिन सबसे परिचय हो जाय। क्रांतिकारी को तभी किसी नए साथी से परिचित कराया जाता था, जब जरूरत के अनुसार ऐसा अवश्य करना पड़ता है, वैसे परिचय में भी वह उस व्यक्ति को पूर्ण रूप से जान नहीं पाता, संभव है कि वह उसके दलगत नाम से ही उसे जाने। कुछ लोग यह जो समझते है कि आज़ाद दल के लिए केवल एक सैनिक के रूप में ही उपयोगी सिद्ध हुए यह गलत है। वे नौजवानों को दल में ले आने के मामले मे बहुत सफल रहे। उनके द्वारा लाए गए लोगों में एक लुहार था, जो बाद को हमें अपने लुहारखाने में देशी बन्दूकें बना देता था, तो दूसरी ओर उनके लाए हुए लोगों में पुराने और तपे हुए असहयोगी भी थे। इनमें से दो नाम बाद को बहुत मशहूर हुए—एक योगेन्द्र शुक्ल और दूसरे रामकृष्ण खत्री। योगन्द्र शुक्ल से मेरा परिचय 1921 में वाराणसी जेल में हुआ था, जहाँ वह अध्यापक कृपलानी के सहायक के रूप में थे। वे उनके कपड़े धोते थे और उनके लिए टमाटर का शोरबा बनाते थे, यह सब अध्यापक के प्रति प्रेम के कारण। वे अहिंसा के सच्चे पुजारी और कांग्रेसी थे और उनका संबंध खद्दर के उत्पादन से था, इसलिए मैंने तो उन पर अपना जाल डाला ही नहीं। पर आज़ाद बार-बार उनसे मिलते रहे और यह आज़ाद की ही सेवा का नतीजा है कि योगेन्द्र शुक्ल बिहार के सबसे ऊँचे क्रांतिकारियों में हुए। हजारीबाग जेल में जब वे कैदी थे, तो उन्होंने ही जयप्रकाश नारायण को अपने साथ जेल से भागने के लिए तैयार किया। जयप्रकाश इसी भागने की बदौलत 1942 आंदोलन के महान् क्रांतिकारी माने गए, पर तथ्य यह है कि छूटने के बाद उन्होंने कोई क्रांतिकारी कार्य नहीं किया। असली बात यह है कि योगेन्द्र शुक्ल की ही बदौलत वे जेल से भागे थे।

रामकृष्ण खत्री साधु थे और उदासी साधु महामंडल के महामंत्री थे। उनकी पृष्ठभूमि कतई क्रांतिकारी नहीं थी, फिर भी आज़ाद ने उन्हें क्रांतिकारी बनाकर ही छोड़ा।

धीरे-धीरे आज़ाद जिले के बाहर भी जाने लगे और जहाँ भी वे गए, बड़े सफल रहे जैसा कि मैं बता चुका हूँ वे क्रांतिकारी आंदोलन के बहुत महत्त्वपूर्ण लोगों के साथ मिलने-जुलने लगे। अब वे दिन-रात राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह अशफाकुल्ला ऐसे लोगों में विचरते रहे। बाद को ये चारों फाँसी पा गए। इनके अलावा बख्शी और मुकुंदीलाल, जो बाद को काले पानी की सजा प्राप्त कर गए, बजरंगबली गुप्त लेखक और प्रकाशक, मनमाड़ मुकद्दमे में सात साल सजा पानेवाले मेरे भाई मनमोहन गुप्त के साथ दिखाई पड़ते थे। गणेश मोहल्ले में हमारे घर पर वे हर समय आते रहते थे, इसी तरह वे राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी का घर उस जगह पर स्थित था, जहाँ से एक सड़क दशाश्वमेध की ओर जाती है और दूसरी गोदौलिया को। राजेन्द्र लाहिड़ी के भाई जितेन्द्रनाथ लाहिड़ी एक दवा की दूकान के मालिक थे। राजेन्द्रनाथ वाराणसी के क्रांतिकारी जिलापति थे।

कौन क्रांतिकारी आगे बढ़ेगा, यह उसके कार्यों से तय होता था। लोग घटनाओं से छनकर आगे बढ़ते हैं। आज़ाद को अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण काम सौंपे जाने लगे। 1924 में दल ने एक चार पृष्ठों का पर्चा निकाला, जिसका नाम अंग्रेजी में 'क्रांतिकारी' था। वह एक ही दिन पेशावर से लेकर रंगून तक सारे भारत में बँटा था। उन दिनों बर्मा भारत में ही था। वाराणसी में आज़ाद और रवीन्द्रमोहन कर ने कमाल कर दिया। काशी विद्यापीठ के हर रजिस्टर के अंदर यह पर्चा निकला। लोग ताज्जुब करते रहे कि ऐसा कैसे हुआ। बात बहुत साधारण थी। आज़ाद की दोस्ती चपरासी से थी। मैं उस कॉलेज का एक छात्र था, इसलिए बहुत-से लोग समझते थे कि मेरी कोई कारगुजारी होगी, पर सच्ची बात तो यों है कि मुझे कुछ पता नहीं था कि कैसे क्या हुआ। जब आज़ाद ने रहस्य खोला कि अमुक भले आदमी ने यह काम किया, तभी मुझे पता चला।

शिवविनायक मिश्र लिखते हैं कि एक दफे संपूर्णानंद ने आज़ाद को कुछ कांग्रेसी पर्चे दिए कि इन्हें कोतवाली के पास दीवार पर चिपकाया जाय। ये बहुत ही चुनौतीमूलक कार्य था, क्योंकि कोतवाली के सामने कोई-न-कोई सिपाही मँडराता रहता था। आज़ाद ने अपनी पीठ पर वह पर्चा धीरे से चिपका लिया और उसके पीछे गोंद लगा ली और फिर जाकर वे सिपाही से बात करने लगे। इस प्रकार जब बातचीत हो रही थी तो वे दीवार से पीठ लगाकर खड़े हो गए और पर्चे को दीवार पर ही छोड़ दिया। आज़ाद सिपाही से तबतक बातचीत करते रहे, जबतक सिपाही चला नहीं गया। उधर सिपाही चला गया और इधर आज़ाद खिसक गए। कुछ देर के बाद लोग कांग्रेसी पर्चा पढ़ने के लिए वहाँ एकत्र हुए और लोगों में खलबली पैदा हो गई। जब सिपाही ने देखा कि लोग वहाँ जमा है, तो वह वहाँ आया और उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उस समय हम लोगों को पता चला

कि आज़ाद बहुत चालाक युवक है।

यह स्पष्ट है कि आज़ाद ने यह काम तब किया होगा, जब कि वे असहयोगी थे, पर ऐसा भी हो सकता है कि क्रांतिकारी बन जाने के बाद भी उन्होंने संपूर्णानंद की बात मानी हो, क्योंकि आज़ाद की आँखों में बल्कि सारे क्रांतिकारियों की आँखों में आज़ादी की लड़ाई एक ओर अविभाज्य रही है। केवल महात्मा गाँधी स्वतंत्रता-संग्राम के सैनिकों में एक तरह का जाति-भेद पैदा करना चाहते थे। बुद्धिमान पाठक यह समझ गए होंगे कि यद्यपि कांग्रेसी लोग बराबर सत्य और अहिंसा की कसमें खाते थे, पर काम बनाने के लिए वे क्रांतिकारी तरीकों का इस्तेमाल जब तब कर लेते थे। काँग्रेस की प्रगति के साथ यह प्रवृत्ति बढ़ती ही गई। आज़ाद की बेचैनी से कभी-कभी समस्या भी पैदा होती थी जैसे कि एक बार पैदा हुई। कुछ क्रांतिकारी शाहजहाँपुर से वाराणसी लौट रहे थे। मैं भी उन लोगों में था। हम लोगों के पास छिपी हुई पिस्तौलें और तमंचे थे। या तो 1923 के अंत में यह घटना हुई या 1924 के प्रारंभ में। इंजिनियरिंग कॉलेज का एक छात्र इस टुकड़ी का नेता था। एकाएक नेताजी के दिमाग में यह फितूर पैदा हुआ कि कारतूसों की संख्या फिर से गिनी जाए। नेताजी का यह ख़याल था कि आज़ाद ने एक कारतूस हटाकर रख लिया है, जिसे वे बाद को अभ्यास के लिए इस्तेमाल करेंगे। किसके पास कितने कारतूस हैं, यह हिसाब लगाने पर देखा गया कि सचमुच एक कारतूस गायब है। यह बहुत ही गंभीर बात थी क्योंकि क्रांतिकारियों में हर कारतूस को पवित्र समझा जाता था। फिर से गिनती हुई। फिर एक की कमी पाई गई। इस पर नेताजी मुझे अलग ले गए और बोले कि चन्द्रशेखर का स्वभाव बहुत जोशीला है, इसलिए संभव है कि कारतूस उन्हीं के पास हो। मैंने नेताजी से कहा कि यह गलत बात है और उन्होंने कहा कि मैं चन्द्रशेखर आज़ाद की तलाशी लूँ। मैंने यह कहकर ऐसा करने से इनकार कर दिया कि केवल आज़ाद की तलाशी लेना उनका अपमान करना होगा। इसलिए उन्होंने मेरी तलाशी ली और मैंने उनकी तलाशी ली। इसके बाद मैंने सबकी तलाशी ली। साथियों ने यह नापसंद किया, पर आज़ाद ने इसे एक खेल समझा। खोया हुआ कारतूस नहीं मिला। बाद को इंजीनियरिंग के छात्र इंजीनियर हो गए और वे उच्चशिक्षा के लिए अमेरिका गए। उसके बाद भारत में उन्हें बहुत अच्छी नौकरी मिली। जिस समय हम लोग जेलों में लम्बी सजाएँ काट रहे थे, आज़ाद तो गोलियों को जवाब गोलियों से देते हुए शहीद हो गए थे, उस समय हमारे नेताजी मौज उड़ा रहे थे। बाद को उनका देहान्त हो गया, यह भी सुना।

कहा भी है कि पागल, प्रेमिक और कवि अजीब लोग होते हैं और क्रांतिकारी इन तीनों के मिश्रण से पैदा होता है, इसलिए उसमें इन तीनों की कमियाँ मौजूद होती हैं। आज़ाद इन कमियों से; कम-से-कम प्रारंभिक वर्षों में बरी नहीं थे। उनके क्रोध से कैसे हम मुसीबत

में फँसेते रह गए, उसकी कहानी इस प्रकार है :

1924 में हम लोग किसी कार्य के लिए शाहजहाँपुर गए। हम पाँच-छह युवक थे और हमें पाँच-छह दिन रहना था। हम किसी होटल या धर्मशाला में टिकना नहीं चाहते थे, क्योंकि वहाँ पुलिस की निगरानी रहती थी। प्रश्न यह आया कि कैसे समस्या हल हो।, रामप्रसाद बिस्मिल ने आँख मारकर एक चुनौती हमारे सामने रखी—"आप लोग बहुत बढ़िया जगह में रह सकते है बशर्ते कि आप वहाँ रहना चाहें।"

हम लोग जवानी की फुर्ती से भरपूर थे, इसलिए हमने कहा कि आप अपनी योजना हमारे सामने रखें तो सही।

योजना इस प्रकार थी : पवाई के नबाब का शहर में एक बहुत बड़ा गढ़नुमा मकान था, जिसमें दो नौकर देखरेख के लिए तैनात थे। इन दोनो नौकरों में से.किसी ने नबाब को या उनके ऊँचे रिश्तेदारों को नहीं देखा था। हमे करना यह था कि हम में से एक को नबाब के भानजे के रूप मे वहाँ जाकर रहना था, बाकी लोग उनके नौकर-चाकर, सिपाही हो जाते। मुझे कहा गया कि तुम नबाब के भानजे हो जाओ और बाकी सब लोग मेरे रिश्तेदार या नौकर बन गए। हमारे पास एक विनचेस्टर राइफल थी। हम लोग आम तौर से उसे तोड़कर बिस्तरे में बाँध लेते थे, पर यह तय हुआ कि नबाब के भानजे के साथ एक बन्दूकवाला सिपाही होना चाहिए, इसलिए बन्दूक खोलकर तैयार कर ली गई और रोबीला-चेहरे वाले वाराणसी के महावीरसिंह हमारे बन्दूक वाले सिपाही बन गए। जैसा कि हमने कहा था—सब काम ठीक हुआ और हम उस घर में रहने लगे। मुझे न केवल उस मकान में तैनात नौकर बल्कि साथी भी नवाब साहब कहने लगे। तभी से मेरा दलीयनाम नवाब पड़ गया।

हम सब उस मकान में ठीक से चलते रहे। हम जानते थे कि एक कदम भी चूक गया और हम सब मारे गए।

एक दिन ऐसा हुआ कि आज़ाद और उनके शिष्य, यानी उनके लाए हुए क्रांतिकारी में चिल्ला-चिल्लाकर बहस शुरू हो गई और डर यह हुआ कि वे लड़ पड़ेंगे। दोनों के पास पिस्तौलें थीं। पहली बात तो हमने यह की कि हमने उनके अस्त्र ले लिए, पर इससे झगड़ा शान्त नहीं हुआ। सौभाग्य से नौकर नीचे की मंजिल में रहते थे और अगर उन्होंने शोर सुना भी होगा तो यही समझा होगा कि नबाब के नौकर शराब पीकर आपस में लड़ रहे हैं। महावीसिंह का देहान्त हो चुका है। इसलिए यह बताया जा सकता है कि आज़ाद के साथ किनका झगड़ा हुआ था, वह महावीरसिंह बहुत साहसिक युवक प्रमाणित हुए और आजाद के बहुत बड़े सहायक रहे।

ऐसा लगता है कि अधिक तजुरबों और जिम्मेदारियों के कारण आज़ाद बाद को बहुत जिम्मेदार व्यक्ति हो गए। फिर भी वे अन्त तक भावुक व्यक्ति रहे। जब आज़ाद और

भगतसिंह मिलकर जेल से योगेशचटर्जी को भगाना चाहते थे, तो ऐसा हुआ कि उस दिन किसी ने आज़ाद की जेब काटकर कुछ रुपए निकाल लिए। इस चोरी से जो कार्यक्रम था, उस पर कोई असर नहीं पड़ता था, पर आज़ाद चोरी के कारण इतने नाराज और अव्यवस्थित हो गए कि उन्होंने वह कार्यक्रम रद्द कर दिया।

दल को चलाने के लिए फंड कहाँ से आए, यह सिरदर्द हमेशा बना रहता था। इस समस्या को सुलझाने के लिए डकैतियाँ या अन्तर्राष्ट्रीय क्रांतिकारी शब्दावली में जिसे जबर्दस्ती चन्दा कहते है, उसका कार्यक्रम बनाया जाता रहा। यह काम जोखिम का था और अक्सर असली काम से यह अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता था। इसीलिए यह सोचा गया कि नए उपाय से धन प्राप्त किया जाए। गोविन्द प्रकाश उर्फ रामकृष्ण खत्री साधु थे और साधुओं मे उनका काफी प्रभाव था। खत्री ने यह सुझाव दिया कि एक महन्त ऐसा है जो किसी नवयुवक को चेला बनाना चाहता है। क्यों न दल का एक सदस्य महन्त का शिष्य बन जाय, ताकि उसके मरने के बाद महन्त की सारी जायदाद दल को मिले। आजाद में वे सब गुण थे जो इस प्रकार के चेले में होना चाहिए। उनका चेहरा और स्वर भी कार्य के अनुरूप था।

आज़ाद ने सुनते ही कह दिया कि मै इस झगड़े में नहीं पड़ता, पर जब उन्हें यह समझाया गया कि महन्त बीमार है और शायद साल या दो साल में चल बसें, तो उन्होंने यह प्रयोग करना स्वीकार किया। रामकृष्ण खत्री की दौड़-धूप सफल हुई और आज़ाद महन्त के शिष्य और उत्तराधिकारी के रूप मे बैठ गए। यह जायदाद उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले मे गगा के किनारे स्थित थी। महन्त को राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी। सच्ची बात यों है कि राजनीति का नाम लेते ही भड़क जाते थे, इसलिए हमने महन्त से यह बात छिपाई कि आज़ाद को बेत लग चुके थे और वे क्रांतिकारी है।

योजना के अनुसार सारा कार्य हुआ और हमने आज़ाद को गाजीपुर मे छोड़ दिया। आश्रम का वातावरण बहुत ही शान्त था। गंगा आश्रम के सामने बहती थी। आश्रम की दीवारें बहुत मोटी थीं। आश्रम का बाग फूलों से लदा था, बहुत सुन्दर स्थान था, पर आज़ाद की बेचैन आत्मा उसमें भला कैसे खुश रहती? उनको जो काम करने पड़ते थे, वे बहुत ही बोरियत वाले थे। एक तो उन्हे आश्रम का सारा काम सँभालना पड़ता था। और दूसरा गुरुमुखी भाषा में जपजी रटना पड़ता था। कहाँ बम, पिस्तौल, गुप्त पर्चे और क्रांति की तैयारियोंवाला वातावरण और कहाँ मध्ययुग के एक मठ के कब्रिस्तान में कैद हो जाना। महन्त हो जाने की संभावना से उन्हें कुछ सांत्वना नहीं मिली, वे बहुत परेशान हो रहे थे।

चन्द्रशेखर आज़ाद ने बहुत मुश्किल से एक पत्र चोरी से हमको भेजा। उसमें यह कहा गया था कि सारा काम बेकार हो रहा है और मैं बहुत दुखी हूँ और बोर हो रहा हूँ।

आजाद ने खत्री को लिखा कि आप अपने साथ नवाब को भी लेते आएँ।

जब आज़ाद से यह पत्र मिला तो हम लोग बहुत परेशान हुए। हम चुप नहीं रह सकते थे। कल्पना के नेत्रों से हमने देखा कि आज़ाद उस अवरुद्ध परिस्थिति की चपेट में कैद हैं और उनका जोश नष्ट हो रहा है। हम लोगों ने यात्रा करने की सोची, ताकि मालूम हो कि क्या स्थिति है। रामकृष्ण खत्री के लिए यह यात्रा बहुत ही साधारण थी, क्योंकि एक साधु दूसरे साधु से मिलने जा रहा था, पर इस मुलाकात में मैं किस हैसियत से जाऊँ। रामकृष्ण खत्री सारी परिस्थिति पहचानते थे। उन्होंने मुझे कहा कि तुम एक भक्त बन जाओ और अपना नाम आप्टेजी रख लो क्योंकि, बंगाली नाम से सन्देह हो जाएगा।

हम लोग रेल से गाजीपुर पहुँचे। महन्त का स्थान मोटी दीवारों और मीनारों से सुसज्जित एक गढ़ की तरह था। बात यह है कि सामन्तवादी जमाने में सामन्त प्रभु और धार्मिक प्रभुगण अस्त्र-शस्त्र से अपनी रक्षा करते थे।

महन्त ने हम लोगों का स्वागत किया। रामकृष्ण उर्फ ब्रह्मचारी गोविन्द प्रकाश ने मेरा परिचय सन्तों के भक्तों के रूप में कराया और कहा—आपके धार्मिक गुणों की बात सुनकर वे आपके दर्शन करने आए हैं।

मैंने आगे बढ़कर महन्त के पैर छुए। हम वहाँ आध्यात्मिक मिशन से गए थे, इसलिए हम लोगों की बातचीत सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों के इर्द-गिर्द चलती रही। हमें यह याद नहीं कि हमने क्या उटपटांग बातचीत की, पर हमें यह याद है कि गीता पर बातचीत होती रही। उस समय तक मैं आस्तिक था। मैं बीतचीत करता जाता था और आँखें तरस रही थीं कि आज़ाद दिखाई दे जाएँ, पर वे कहीं दिखाई नहीं पड़े। स्वामी गोविन्दप्रकाश की भी आँखें घूम रही थीं, पर वहाँ तो हमारे सामने दीवारें और महन्त के नौकर थे। हम यह आश्चर्य कर रहे थे कि आज़ाद से कैसे मिला जाय। रहा यह कि संपत्ति की विशालता से हमें खुशी हो रही थी कि ये सारी दीवारें और मीनारों युक्त स्थान हमें महन्त की मृत्यु पर प्राप्त हो जाएगा। यह इतनी बड़ी जगह थी कि यहाँ हम आसानी से गोली चलाने का अभ्यास कर सकते थे।

महन्त के साथ हमारी बातचीत आत्मा, परमात्मा, गीता और उपनिषदों पर होती रही। इससे यह प्रमाणित हो गया कि हम सही लोग हैं, पर साथ ही हम बहुत बोर हुए। तब गोविन्दप्रकाश ने यह कहा कि अब हम मठ की परिक्रमा करें। जिस समय हम परिक्रमा कर रहे थे, आज़ाद एकाएक प्रकट हो गए। आज़ाद आंशिक रूप से गेरूआ रंग के कपड़ों में थे। उनके चेहरे से असंतोष टपकता था। बहुत दिनों बाद हम मिल रहे थे, इसलिए हम चाहते तो यह थे कि एक दूसरे को आलिंगन में बाँध लें। पर स्थिति यह थी कि मैं उन्हें जानता नहीं था और वह साधु थे और मैं गृहस्थ था। मुझे आज़ाद से आप्टेजी कहकर परिचय

कराया गया, और मुझे उनके पैर छूने पड़े। जब मैंने उनके पैर छुए तो उनके दुखी चेहरे पर एक हँसी की पतली रेखा खेल गई। इसके बाद हम अपने आसनों पर बैठ गए। फिर वहीं हजार बोरियत और पुनरुक्तियोंवाली बातचीत शुरू हुई। खत्री इस अखाड़े के बहुत पुराने खिलाड़ी थे, ऐसे कई आध्यात्मिक लड़ाई के मैदानों से वे झंडा ऊँचा करके निकल आए थे, पर वे भी थक गए। हम लोग बकते जाते थे और बीच-बीच में आज़ाद के साथ अर्थपूर्ण दृष्टि-विनिमय करते जाते थे। इसके बाद खैरियत यह हुई कि महन्तजी काम से चले गए। हम लोग फिर भी उसी प्रसंग पर कभी न खत्म होनेवाली बहस करते रहे।

पर ज्योंही महन्त इतनी दूर चले गए कि हमारी बातचीत सुन न सकें तो आज़ाद ने अपने आध्यात्मिक गुरु के संबंध में कहा—यह साला अभी मरनेवाला नहीं है, यह बहुत दूध पीता है और काफी कसरत करता है। मैं गुरुमुखी पढ़ते-पढ़ते अंधा हुआ जा रहा हूँ। अब मुझसे यह सब सहन नहीं होने का। उन्होंने अंतिम रूप से यह बात कह दी।

इस प्रकार हम-थोड़ी बहुत बातचीत करने में सफल हुए। यह तो स्पष्ट था कि पक्षी ने सोने का पिंजरा पसंद नहीं किया था और जल्दी ही वह फुर्र होनेवाला था। हमने जहाँ तक बन पड़ा, उन्हें सांत्वना दी और समझाया। हमने यह भी कहा कि हम स्थानीय नेता राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी से सारी बातें बता देंगे और उनका फैसला आज़ाद तक पहुँचा देंगे।

हम शाम की गाड़ी से वाराणसी लौट आए। हमने लाहिड़ी से सारी बात बात दी, पर कोई फैसला नहीं हुआ। मामला उस समय टाल दिया गया।

पर आज़ाद ऐसे व्यक्ति नहीं थे कि अपने पैरों के नीचे घास उगने दें। एक दिन मैं देखता क्या हूँ कि वे हमारे सामने खड़े हैं। महन्त को बिना बताये मठ से नौ-दो-ग्यारह हो गए थे। हफ्तों वे हमको अपनी चेलागीरी और महन्त की खामखयाली की बातें सुनाकर हँसाते रहे। इस यात्रा मे वे पहले से गंभीर हो गए थे।

बाद के युग में चन्द्रशेखर आज़ाद शारीरिक रूप से एक दैत्य के रूप में मशहूर हुए, पर शुरू में वे एक तगड़े युवक मात्र समझे जाते थे। वे दल के हिंसात्मक कार्यों के लिए बहुत पहले सफल व्यक्ति सिद्ध हुए। दल इस मार्ग में तभी उतरता था, स्थिति जब अनिवार्य हो जाती थी। पहले-पहल गाँव में डकैतियाँ की गईं और वे भी इस रूप में मानों साधारण डकैतों के तरीके अपनाए जाते थे ताकि पुलिस को पता न लगे। क्रांतिकारी गालियाँ आदि देते थे, पर एक मामले में वे हमपेशेदार डकैतों का कतई अनुकरण नहीं करते थे। सारे साधारण डकैत बेकसूर के साथ दुर्व्यवहार करते या उससे आगे बढ़ जाते, पर क्रांतिकारियों का एक कौल था कि उनके लिए हर स्त्री माता के समान मान्य थी।

इस संबंध में दल इतना पक्का था कि प्रतापगढ़ के एक गाँव में डकैती करते समय बहुत दुखान्त स्थिति पैदा हो गई। रामप्रसाद बिस्मिल के नेतृत्व में आज़ाद तथा दूसरे लोग

जिनमें मैं भी था, सन्ध्या के बाद उस गाँव में पहुँचे। जब हम लोग गाँव में दाखिल हो रहे थे, उस समय गाँववाले अभी जाग रहे थे और अपने घरों के इर्द-गिर्द चल-फिर रहे थे। कुछ गाँववालों ने हम लोगों से पूछा कि तुम लोग कौन हो और कहाँ जा रहे हो। हम लोगों ने यह दावा किया कि हम फलाने महाजन के अतिथि हैं। इस पर सब लोग चुप हो गए। इससे यह ज्ञात होता है कि महाजन के यहाँ अक्सर अजीब लोग आते-जाते थे।

जब हम महाजन के घर में गए, तो हमने एक बन्दूक दागकर अपना उद्देश्य बता दिया। गाँववाले फौरन समझ गए कि जिनको उन्होंने देखा था, वे अतिथि नहीं थे। उन लोगों ने हमको गिन लिया था, क्योंकि हम सारे आठ आदमी थे और उन्होंने यह भी मौखिक रूप से समझ लिया था कि सारे लोगों के मन में डाकुओं के जैसा कद और कामत की धारणा है, हम उसकी पूर्ति नहीं करते थे। उन्होंने हमको बन्दूकें लाते नहीं देखा था, इसलिए वे समझे थे कि हम भय दिखाने के लिए पटाखे छोड़ रहे हैं।

रामप्रसाद बिस्मिल महाजन के मकान के सामने राइफल लिए खड़े थे। आमतौर से वे ऐसे मौकों पर छत पर होते थे। गाँववालों ने बगल से चोरी से आकर उन पर हमला कर दिया ओर उनके सिर पर और राइफल पर लाठियाँ मारीं। यदि वे उस समय गिरा लिए जाते, तो सारा काम नष्ट हो जाता। ऐन वक्त पर शचीन्द्रनाथ बक्शी अपना तमंचा लेकर आगे आए, उन्होंने बिस्मल को बचाकर स्थिति सँभाल ली।

मकान के अंदर जो कुछ हुआ, वह भी अप्रत्याशित था। हम लोगों की यह कड़ी हिदायत थी कि हम किसी स्त्री पर हमला न करें। हम घर की स्त्रियों को एक जगह एक कोने में बैठा देते थे। इस अवसर पर भी हमने स्त्रियों को अलग बैठाने की चेष्टा की, पर दो स्त्रियाँ जिनकी उम्र 30 या 32 साल के लगभग थी, यानी हमारी माता होने के योग्य थीं, एकदम से हमला बोलकर हम पर टूट पड़ीं। हमने तमंचों से उन्हें रोकने की कोशिश की, पर वे नहीं रुकीं। उन्होंने हमारे तमंचे पकड़ लिए और उनमें इतनी ताकत थी कि हमें ऐसा लगा कि सर्वनाश हो गया। उन्होंने एक हाथ में तमंचा पकड़ा और दूसरे से हमें मारती रहीं। हम उन्हें मार नहीं सकते थे, साथ ही हम तमंचा छोड़ नहीं सकते थे। मैंने अपनी पूरी ताकत लगाकर अपना तमंचा वापस कर लिया, पर आज़ाद का तमंचा छिन गया। यही नहीं, जिस औरत ने आज़ाद का तमंचा छीना था, वही चली गई। खैरियत यह हुई कि वह यह नहीं जानती थी कि कैसे गोली चलाई जाती है। आज़ाद बहुत घबराये हुए थे, पर मैं क्या कर सकता था? मैं स्त्री पर गोली नहीं चला सकता था और न शक्ति का प्रयोग कर सकता था। आज़ाद व्यथा और लज्जा से बिलकुल विकल हो गए। शायद वे मेरा तमंचा छीन उस वीरांगना का पीछा करते! पर इस बीच पीछे लौटने का आदेश आ गया। चन्द्रशेखर आज़ाद ने बिस्मिल से यह कहना चाहा कि हम एक तमंचा खो चुके

है, पर हम अपनी खुशी से नहीं, बल्कि गाँव के लोगों के दबाव के कारण जल्दी भाग रहे थे, इसलिए आज़ाद की कोई सुनाई नहीं हुई। हम एक तरह व्यूह बनाकर घर से निकले और रामप्रसाद राइफल लेकर हमारे पीछे से हमारी रक्षा करते रहे।

जब गाँववालों ने देखा कि हम पीछे हट रहे है, तो वे पीछे की तरफ से हम पर हमला करने लगे। हम पर ईंट और पत्थर बरसाए गए। उनमें से हमें कुछ लगे, पर कोई घायल नहीं हुआ। लगभग 200 गाँववाले हमारा पीछा कर रहे थे। उनके पास तलवारें, फरसे और डंडे थे, पर कोई तमंचा आदि नहीं था। हमारे लिए यह एक नया तजर्बा था। कभी हम लोगों का इस प्रकार पीछा नहीं किया गया। ऐसा इस कारण हुआ कि गाँववालों ने हमें देख लिया था और हमें वे गिन चुके थे। जब दुश्मन अदृश्य होता है, उनका भाव ज्यादा व्याप्त हो जाता है। इसके अलावा गाँववालों की यह धारणा थी कि हमारे पास केवल पटाखे है। शायद उन लोगो ने यह सोचा कि जो तमंचा उनके कब्जे में आया था, वह एक खिलौना था, क्योंकि आज़ाद ने अंत तक गोली नहीं चलाई थी। गाँववालों के शोर मचाने से आसपास के गाँव में भी लोग जाग गए और हम पर दौड़ पड़े।

यद्यपि गाँववाले हमारा पीछा कर रहे थे, फिर भी हमने देखा कि दौड़ धीरे-धीरे कम हो रही है, इसलिए हमने सोचा कि थोड़े समय मे सब ठीक हो जाएगा और हम अंधकार मे खो जायेंगे। पर इस बीच ऐसी घटना हुई जिसमे गाँववालों की गिरती हुई नैतिक स्थिति सँभल गई। राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी के पास माल का थैला था। वे एक गड्ढे में गिर पड़े। इससे हम रुक गए। भीड़ ने यह देखा कि हम रुके है और उनका हमला पहले से दुगुना तेज हो गया। लाहिड़ी को गड्ढे से निकाला गया। घबराहट और जल्दबाजी में उन्होंने अपनी पोटली गड्ढे में ही छोड़ दी और वे ऊपर आ गए। यदि पोटली लेनी थी, तो फिर से गड्ढे में जाना था, पर उन्हें ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी गई, क्योंकि इस बीच हमला तेज हो चुका था। हमला करनेवालों ने इस तथ्य को देखा और वे बिलकुल हम पर आ गए। रामप्रसाद बिस्मिल बीच-बीच में एक आधी गोली चला देते थे ताकि लोग दूर रहें। वे ग्रामवासियों पर गोली चलाना नहीं चाहते थे।

हम लोगों की पोटली गड्ढे में छूट गई। इसका परिणाम अच्छा भी हुआ और खराब भी। अधिकतर लोग उस पोटली में लग गए, पर जो गाँववाले अब भी हमारा पीछा कर रहे थे, वे बहुत दृढ़प्रतिज्ञ थे और वे हमें पकड़ लेना चाहते थे। इस बीच किसी और गाँव के पड़ोस में पहुँच गए थे हमले और बीच-बीच में धाँय-धाँय के कारण इस गाँव के लोग लालटेन और लाठी लेकर निकल आए और दूसरे ही किनारे से हम पर हमला करने लगे। अब रामप्रसाद बिस्मिल भी कुछ चिन्तित हो गए, क्योंकि इस तरह से हर गाँव में नये हमलावर आए और यह इलाका बहुत घना बसा हुआ था, तो हम लोग बच नहीं सकते

थे। अब बिस्मिल ने हमको हुकम दिया कि हम लोग आगे बढ़ें और वे स्वयं राइफल लेकर लोगों का सामना करने के लिए रुक गए। गाँव वाले अब 50 कदम दूरी पर थे, तो उन्होंने चेतावनी देकर दो गोलियाँ चलायीं। एक आदमी चीखकर गिर पड़ा। जब यह घटना हुई तभी गाँववालों को विश्वास हुआ कि हमारी बन्दूकें सच्ची थीं। लोगों ने पीछा करना छोड़ दिया। इस पर भी दो व्यक्ति दूर से हमारा पीछा करते रहे, पर हमने उन पर ध्यान नहीं दिया, और जैसा कि हमने आशा की थी, वे थोड़ी ही देर में समझ गए कि इससे कोई लाभ नहीं और वे अन्धकार में विलीन हो गए।

देखा जाय तो यह सारा अभियान, जिसे बहुत सुन्दर ढंग से योजनाबद्ध तरीके से तैयार किया गया था, बिलकुल व्यर्थ था। हम एक तमंचे से वंचित हुए और हमारा सर्वनाश हो सकता था। इस घटना के कारण दल के नेताओं ने गाँव की डकैतियों वाले कार्यक्रम छोड़ने का विचार किया। हम लोग तो इस बात से दुखी रहते थे कि गाँववालों पर हमें हमला करना पड़ा था।

चन्द्रशेखर आज़ाद इस बात से बहुत दुखी हुए कि एक तमंचा खो गया। हमने यह कहकर तसल्ली दी कि जब आप किसी सिद्धान्त पर चलते हैं, तो उसके लिए त्याग करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

गाँव की डकैतियों के संबंध में इस वर्णन को समाप्त करने से पहले मैं एक और डकैती का वर्णन करना चाहूँगा, जिसमें चन्द्रशेखर आज़ाद ने भाग लिया था। इस अवसर पर क्रांतिकारी पुलिस-दल की टुकड़ी के रूप में गाँव में पहुँचे थे। रामप्रसाद बिस्मिल गोरे-चिकटे थे, इस कारण उन्हें सोला का हैट और चूड़ीदार सैनिक पेंट पहनाकर अंग्रेज पुलिस अफसर बना दिया गया। महावीर सिंह की थोड़ी-सी दाढ़ी थी, इसलिए वह छब्बेदार जरी की पगड़ी पहनकर सिख पुलिस अफसर बन गए। चन्द्रशेखर आज़ाद और उसकी तरह दूसरे लोग खाकी रंग की कमीज पहनकर सिपाही बन गए। गाँववालों को यह विश्वास हो गया कि हम पुलिस के लोग हैं और हम गाँव के महाजन की तलाशी लेने आए हैं। जब हम लोग तलाशी लेकर निकल आए और गाँव छोड़कर चले, तो गाँववालों को हमारे असली रूप का पता लगा।

इन कार्यों में हम जितना जोखिम उठाते थे और जितना कष्ट करते थे, उसकी तुलना में धन बहुत कम मिलता था। दुर्भाग्य की बात है कि हर देश के क्रांतिकारियों को इस प्रकार जबर्दस्ती चन्दा लेना पड़ता था। आयरलैंड और रूस के क्रांतिकारी भी इन्हीं कार्यों से पार्टी के लिए पैसे जुटाते थे। स्तालिन की जीवनी में यह दिखाया गया है कि एक डकैती में उन्होंने हिस्सा लिया था। रूसी दल के इतिहासकारों ने इस बात पर कोई रोशनी डालने की जरूरत नहीं समझी कि दल को कैसे धन प्राप्त होता था। अब तो यह आम बात

हो गई है कि पूँजीपतियों के द्वारा काले धन और विदेशी धन से राजनीतिक दल चलाए जाते हैं, जिसका अन्दाजा हमारे सामने है। जैसा कि हम बता चुके, किसी विशेष परिस्थिति में विदेशी धन का क्रांतिकारी उपयोग हो सकता है। फिर भी यह मान लेना अतिसरल होगा कि विदेशी बिना कुछ स्वार्थ के धन देता है। किसी भी हालत में विदेशी धन लेना आग के साथ खेलना है। मालूम नहीं, सोपान में जाकर आप विदेशी के साथ काम करनेवाले व्यक्ति से उनके एजेंट परिणत हो जाते है। इसके साथ ही डकैती से धन लेना भी खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि धन लेने का कार्य असली कार्य से बड़ा हो जाता है और लोगों को मारना-पीटना पड़ता है। अब काकोरी घटना को लीजिए। इसमें चार व्यक्ति फाँसी पा गए, उन्हें डकैती के कारण फाँसी हुई। इसमें संदेह नहीं उनके विरुद्ध राजनीतिक अभियोग और अपराध थे। पर फाँसी उन्हें राजनीतिक अपराध के कारण नहीं दी गई।

कुछ भी हो, अपनी असफलताओं से मजबूर होकर दल ने गाँव की डकैतियाँ बंद कर दीं। यह एक बहुत महत्वपूर्ण फैसला था और उससे पार्टी के जीवन में मोड़ आया।

सभी सदस्यों ने इस नए फैसले का स्वागत किया। विशेषकर इस कारण कि लोग अपना क्रांतिकारी परिचय छिपाना नहीं चाहते थे और डकैतों की तरह चलना नहीं चाहते थे। उन्होंने यह सोचा, यदि बैंक लूटे गए, रेल को खड़ी करके खजाना ले लिया गया, तो इस प्रकार उन्हें अपने क्रांतिकारी व्यक्तित्व को सामने लाकर उजागर करने में काफी सुविधा मिलेगी। उन्होंने यह भी सोचा कि रवीन्द्रमोहन कर माने हुए क्रांतिकारी को अवारापन के बहाने जेल भेज देने पर भी हम जवाब दे सकते हैं। पर इसी कारण से अशफाकुल्ला ने जमकर विरोध किया। अशफाकुल्ला ने यह कहा कि अब तक हमने अपने को छिपाकर काम किया है, पर यदि हमने बैंक लूटी या रेल का खजाना ले लिया तो सारा [illegible] हम पर एकदम से टूट पड़ेगा और हमें ध्वस्त करने के लिए ज़ोर लगेगा। अशफा[illegible] ने यह कहा कि हम ब्रिटिश सरकार से सीधे लड़ नहीं सकते। पर फैसला तो उच्चस्तर पर हुआ था और रामप्रसाद बिस्मिल उस उच्चस्तर की समिति के सदस्य थे। इसलिए बिस्मिल को अशफाक का विरोध करना पड़ा। यद्यपि ऐसा समझने का कारण है कि रामप्रसाद इस नये फैसले से पूरी तरह सहमत नहीं थे। उसका कारण यह था कि बैंक लूटना या ट्रेन खड़ी करना उनके लिए अज्ञात भूमि थी।

चन्द्रशेखर आज़ाद ने इस फैसले का स्वागत किया। इसलिए नहीं कि इसमें अधिक संभावनाएँ थीं, बल्कि इसलिए कि इसमें अधिक जोखिम था। उनको इस बात से खुशी हुई कि अब सरकार से सीधे मुकाबला होगा। गाड़ी का खजाना लूटने के लिए कई योजनाएँ बनीं। आखिरी एक योजना यह थी कि जब गाड़ी किसी स्टेशन पर खड़ी हो, तब खजानेवाले डिब्बे पर हमला किया जाय। पहले स्टेशन मास्टर, गार्ड, इंजन-चालक को पकड़ लिया

जाय और फिर खजाने पर काबू किया जाए। चन्द्रशेखर आज़ाद और कई दूसरे लोग खुल्लमखुल्ला यह कहने लगे कि यदि गार्ड, ड्राइवर या स्टेशन मास्टर अंग्रेज हुए तो लगे हाथों बदले के रूप में उन्हें भी गोली मार दी जाएगी। ये बातें रामप्रसाद बिस्मिल के कानों में पहुँची और वे बहुत दुखी हुए। वे नहीं चाहते थे कि उद्देश्यों को इस प्रकार गड्डमड्ड कर दिया जाय। उन्होंने एकदम से यह कह दिया कि यदि इस काम में भाग लेने वाले सभी लोग इस बात पर राजी नहीं हुए कि किसी भी हाल में किसी को गोली मार देना हमारा उद्देश्य नहीं है, तभी हम इसमें भाग लेंगे। नतीजा यह है कि गरम विचारवालों को पीछे हटना पड़ा। आज़ाद और उनके विचारों के लोग बहुत निराश हुए।

अन्त में चलकर अन्तिम कार्यक्रम प्रस्तुत हो गया। यह तय हुआ कि उस विशेष ट्रेन में किसी स्टेशन से सवारी की जाय, फिर दो स्टेशनों की बीच जंजीर खींच ली जाय, खजाने का बक्स निकाल लिया जाय और उसे खोलकर खजाना लेकर भाग चला जाय। 8 नम्बर डॉउन गाड़ी स्टेशनों के दिन भर की कमाई को लखनऊ ले आती थी और हमने उसे अपना लक्ष्य बनाया। सारी बातों का सर्वेक्षण हुआ। इस कार्य के लिए लखनऊ में प्रान्त के विभिन्न भागों से व्यक्ति एकत्र हुए। इनमें से अधिकांश लोग लखनऊ में छेदीलाल की धर्मशाला में ठहरे। निर्दिष्ट दिन पर लोग अपने विभिन्न माँदों को छोड़कर पैदल अगले स्टेशन पर पहुँचे। उस समय योजना यह थी कि स्टेशन के कर्मचारियों को पकड़ लिया जाय और उस गाड़ी को लूट लिया जाय। जब हम लोग स्टेशन पर पहुँचे, 8 डॉउन ट्रेन जिसे हमें लूटना था, हमारी तरफ आती हुई दिखाई पड़ी और तेजी से लखनऊ की तरफ चली गई। इस प्रकार उस दिन हम लोग 10 मिनट देरी से पहुँचे। यह कोई अजीब बात नहीं थी क्योंकि गाँव की डकैती में घंटा आध घंटा इधर हो या उधर कोई फ़र्क नहीं पड़ता। हम लोगों ने यह कहा कि यह वह ट्रेन नहीं है, जो देर से चलती हो। यह बात कुछ हद तक जँची और वाराणसी के मुरारीलाल शायद इस काम के लिए स्काउट के रूप में भेजे गए कि इस बात का पता लग जाय कि कौन-सी ट्रेन थी।

मुरारी लाल ने आकर बताया कि हाँ यह वही गाड़ी थी, जिस पर हम हमला करना चाहते थे। इसके बाद वहाँ रहना व्यर्थ था, इसलिए हम निराश होकर लखनऊ पैदल वापस चले आए।

अगले दिन तक स्थिति यह हुई कि हमने जो कार्यक्रम बनाया था कि स्टेशन पर खड़ी गाड़ी पर हमला किया जाए, इस योजना को समाप्त कर दिया गया। रामप्रसाद गाँव की डकैतियों के आदी थे, इसलिए उन्होंने समझा कि यह योजना बहुत शहरी है और इसमें समय पर सब काम इस प्रकार से करने हैं जो वह हमारे बूते के बाहर है। इसलिए 1925 के 9 अगस्त को हम लोग लखनऊ से रेल द्वारा अगले जंक्शन पर गए। हमने

सब तरह की सावधानियाँ बरतीं। हम 8 डॉउन ट्रेन पर सवार होना चाहते थे, इसलिए तीन क्रांतिकारियों ने दूसरे दर्जे के टिकट लिए और बाकी सबने जिनमें आज़ाद और रामप्रसाद भी थे, तीसरे दर्जे में चले। दूसरे दर्जे में जो तीन चले थे वे अशफाक, राजेन्द्र लाहिड़ी और शचीन्द्र बक्शी। दूसरे सात लोग यानी रामप्रसाद, चन्द्रशेखर आज़ाद, मुकुन्दीलाल, मुरारीलाल, कुन्दनलाल, बनवारीलाल और मैं सारी ट्रेन में फैल गए। दूसरे दर्जे के क्रांतिकारियों को यह काम सौंपा गया था कि वे जंजीर खींचकर ट्रेन रोक लें। जब ट्रेन रुक गई, तो हम लोगों को इंजन की तरफ और कुछ लोगों को गार्ड की तरफ दौड़कर खजाने पर कब्जा करना था। जिस समय ट्रेन खड़ी की गई, उस समय अँधेरा हो चुका था। यह वह समय था, जब रात और दिन मिल जाते थे और दूर से चीज कम दिखाई देती है। योजना इस खयाल से सही समय और सही जगह क्रियान्वित हुई।

जैसे ही जंजीर खींचने पर एकाएक आवाज देकर गाड़ी खड़ी हो गई, त्यों ही हम लोग जो तीसरे दर्जे में थे, इस प्रकार उतर पड़े, मानों हम यह देखना चाहते हैं कि क्या मामला है, गाड़ी क्यों रुकी? इसके बाद जो जिसका काम था, उसमें बिलकुल मशीन की तरह लग गए। इस बार हम बन्दूकें नहीं लिए थे, बलिक माउजर पिस्तौल और दूसरे छोटे अस्त्र लाए थे। यदि माउजर पिस्तौलों पर बट या कुंदा लगा दिया जाए तो वे राइफल की तरह हो जाती हैं और एक हजार गज तक मार करती हैं।

गार्ड को पकड़ लिया गया और पट लेटा दिया गया। इसके बाद खजाने का वह लोहेवाला सन्दूक धकेलकर गार्ड के कमरे से गिरा दिया गया। बहुत बड़ी हथौड़ी और छेनी हमारे साथ तैयार थी। सन्दूक तोड़ने का काम चालू हो गया। रेल की दोनों तरफ दो-दो आदमी पिस्तौल लेकर पहरा दे रहे थे। मुसाफिरों को हिंदी में यह बता दिया गया कि उनका हम किसी प्रकार का नुकसान नहीं करना चाहते। हम सिर्फ सरकारी माल लेना चाहते हैं। उनसे यह कहा गया, वे न तो गाड़ी से उतरें और न गाड़ी से बाहर झाँककर देखें कि क्या हो रहा है। समय-समय पर मुसाफिरों को अन्दर बनाए रखने के लिए गोली चलाई जा रही थी। सारी बातें योजना के अनुसार हो रही थीं। कुछ देर बाद ऐसा लगा कि हथौड़े की चोट से काम नहीं बन रहा है। किसी ने कहा कि इससे बड़ा हथौड़ा लाना चाहिए था या इस प्रकार और कुछ कह गए। अशफाक और मैं उस सन्दूक के पास ट्रेन के आखिर में खड़े थे। अशफाक समझ गए कि यदि हम सन्दूक नहीं तोड़ पाए, तो योजना बिलकुल बेकार हो जाएगी। इससलिए नेता की आज्ञा लिए बिना ही जो और कहीं व्यस्त थे, अशफाक ने माउजर पिस्तौल हमें दे दी और वे सन्दूक तोड़ने में लग गए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे रामप्रसाद के अलावा सबसे तगड़े आदमी थे।

उन्होंने हथौड़ा उठा लिया और वे ज़ोरों के साथ जुट पड़े। इस समय जबकि सफलता बिलकुल सामने थी, एक गाड़ी की आवाज आते हुए सुनाई पड़ी। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं था कि एक गाड़ी हमारी तरफ आ रही थी। अब बिलकुल अँधेरा हो गया था, इसलिए

इंजन के ललाट की रोशनी हमें स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी। भला यह कैसी गाड़ी थी? यह कैसे हो गया कि इतनी थोड़ी देर में अगले स्टेशन पर हमारी खबर पहुँच गई। यह संभव नहीं था। तो क्या यह हुआ कि किसी ने विश्वासघात किया? अन्य कितने ही प्रश्न हमारे मन में कौंध गए। संभव है कि यह सैनिक गाड़ी है। इस संभावना में हम लोग करीब-करीब जम गए।

अब हमारे नेता लोहे के सन्दूक के पास आ गए थे। हमने उनकी तरफ देखा। वे बिलकुल स्थिर खड़े थे और अन्य सब लोगों की तरफ एकाग्र होकर ट्रेन को देख रहे थे। ऐसा लगा कि ट्रेन के यात्रियों में भी सुगबुगाहट हो रही थी। हम चाहते तो उस वक्त भागकर अँधेरे में लुप्त हो सकते थे, पर हमने यह फैसला किया कि जो कुछ भी हो, उसका सामना करना है। अधिक-से-अधिक यह हो सकता था कि दोनों तरफ से गोलियों की बौछारें हों और हम सब मारे जाएँ। पर अब जब कि हम पर यह खतरा आ चुका था, हमें बिलकुल डर नहीं लग रहा था। क्या यह बात सच नहीं है कि हम मौका मिलने पर वीरता का एक आदर्श पेश करना चाहते थे।

हमने अपने हाथों में अपने अस्त्रों को कसकर पकड़ लिया और आती हुई गाड़ी की तरफ देखने लगे। अशफाक हथौड़ा चलाकर अपना काम आगे बढ़ा रहे थे और छेद करीब-करीब इतने बड़े हो गए थे कि सन्दूक में पड़ी थैलियाँ निकाली जा सकती थीं। इस समय हथौड़े की चोट के अलावा बाकी सब शान्त थे। यात्रियों को ट्रेन के अंदर रहने के लिए बराबर गोलियाँ दागी जा रही थीं।

हिमगिरी की तेजी से रेल हमारी तरफ दौड़ती आ रही थी। रेल की फटफट आवाज चारों तरफ छाई हुई थी। आखिर क्या होनेवाला है? मृत्यु? कौन जानता है क्या होगा? पर अब हमें कोई भय नहीं था। उसी समय रामप्रसाद ने यह देखा कि जहाँ हम खड़े थे, वहाँ डबल लाईन थी, एकाएक उनको याद आ गया कि पंजाब मेल आ रही है और इसमें कोई संदेह नहीं कि यह रातवाली पंजाब मेल थी। उन्होंने हमें यह बात बता दी।

हमारे नेता सामने मौजूद थे। उनकी सहजात बुद्धि बहुत प्रखर थी। उन्होंने इससे पहले हमें बहुत भयंकर खतरों की स्थिति से निकाला था। क्या यह बात सच नहीं है कि इससे पहले हर मौके पर उन्होंने इससे भी गंभीर स्थिति में सही फैसले किए थे। शायद वे हमसे कहें कि लौट चलो या यह कहें कि पास के पेड़ों के पीछे हो जाओ और वहाँ से जबर्दस्त मोर्चा सँभालो।

आती हुई गाड़ी बिलकुल पहुँचने ही वाली थी। ऐसे मौके पर बिस्मिल ने हमसे कहा कि हम अपने अस्त्रों को छिपा लें, उससे यह होगा कि यदि कोई गाड़ी से झाँकेगा, तो वे हम लोगों को साधारण भटके हुए यात्रियों के रूप में देखेंगे। उन्होंने अशफाक से इस प्रकार खड़े होने के लिए कहा मानो वे कोई दृश्य देख रहे हों। गाड़ी बहुत तेजी से आ रही थी और चारों तरफ उसका शोर था। एक लम्हे के अन्दर गाड़ी हमारे सामने से निकल

गई और सारी स्थिति एक दुःस्वप्न की तरह चली गई। अब वह एक गोली की तरह अगले स्टेशन की तरफ जा रही थी। हमारे चेहरों तथा इस गाड़ी पर तेज रोशनी गिरी, बहुत जोर से दोनों गाड़ियों की हवाएँ टकराई और देखते-देखते सब खत्म हो गया।

इस प्रकार यह खतरा टल गया और हर मिनट उस गाड़ी का शब्द धीमा होता चला गया। अशफाक के हथौड़े की ध्वनि फिर धीरे-धीरे जानेवाली गाड़ी की आवाज पर हावी होने लगी। बहुत जल्दी वह सन्दूक तोड़ डाली गई और उसमें एक बड़ा छेद हो गया। रुपयों के थैले निकालकर एक बड़ी चादर में बाँध लिए गए।

यह काम सम्पन्न हो चुका था और अब हमें आदेश दिया गया कि हम लौट चलें। इस गाड़ी में पिस्तौलवाले कुछ गोरे भी थे। एक सैनिक अफसर भी था, जो शायद कर्नल या मेजर था। इनमें से कोई भी हमारे लिए बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता था। यात्रियों को गलत धारणा देने के लिए हम इस तरह से अँधेरे में बिला गए कि उनको यह धारणा हो कि हम लखनऊ नहीं, उसकी उल्टी दिशा में जा रहे हैं। हम चौक की तरफ़ से लखनऊ में घुसे, जो एक बड़ा बाजार होने के अतिरिक्त शहर की वेश्याओं का मोहल्ला था। हमने जानबूझकर इस मोहल्ले को चुना कि इस इलाके में लोग बड़ी रात तक घूमते-फिरते रहते थे और किसी से कोई यह नहीं पूछता था कि तुम कौन हो। जब सारा शहर सोता रहता था, तो यह हिस्सा जागता रहता था।

लखनऊ जाते समय हमने रुपए निकाल लिए और बारिश के पानी से भरे हुए गड्ढों में चमड़े के थैले डाल दिए। बाद को जब जाँच हुई तो इन थैलों से पुलिस को यह पता लगा कि हम किस रास्ते लखनऊ लौटे। ज्योंही हम लखनऊ पहुँचे, मिला हुआ धन हमने किसी अच्छी जगह में रख दिया। किसी को इसका पता नहीं था, सिवाय रामप्रसाद के। अस्त्र-सस्त्र भी उसी तरह छूमन्तर हो गए।

जिन लोगों के पास लखनऊ में छिपने के अपने स्थान थे, वे उन स्थानों में चले गए। पर चन्द्रशेखर आज़ाद और मेरी तरह के लोगों ने जिनके पास ऐसा कोई स्थान नहीं था, किसी पार्क में रात गुजारी। देखने में यह बहुत मूर्खतापूर्ण लग सकती है, पर भारत में बहुत से लोग पार्कों में और सड़कों पर सोते हैं, इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं था। ज्योंही सवेरा हुआ हम पार्क छोड़कर प्रातःकाल की सैर करनेवाले लोगों में तथा मंदिर जानेवालों में मिल गए।

बहुत सवेरे ही अखबार बेचनेवाले चिल्ला-चिल्लाकर काकोरी की ट्रेन डकैती की सनसनीवाली खबर का प्रचार करते रहे। लखनऊ में उस समय एक मात्र अंग्रेजी पत्र था 'इंडियन डेली टेलीग्राफ।' उसमें यह खबर दी गई थी तीन आदमी, जिनमें एक गोरा भी था, मारे गए थे। हम लोग चाहते तो अखबार ख़रीद सकते थे, पर हमारे मन में चोर होने के कारण हमने अखबार नहीं खरीदा। जब अन्त में हम समझ गए कि हम अखबार खरीद सकते हैं तो हमने अखबार खरीदा और देखा कि बड़े अक्षरों में ट्रेन डकैती का

डाल दिया गया था। हमें इस बात पर आश्चर्य हुआ कि लोग कैसे मारे गए। यह स्पष्ट था कि लोग गाड़ी से उतरे होंगे और इस प्रकार उन्हें गोलियाँ लग गई होंगी।

इस घटना के बाद चन्द्रशेखर आज़ाद, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी, शचीन्द्रनाथ बक्शी और मैं रेल से वाराणसी पहुँचे। इसका ब्यौरा याद नहीं है। यदि हम एक ही ट्रेन से लौटे, तो हम अलग-अलग डिब्बों में लौटे होंगे।

बाद को हमें पता लगा कि तीन हत्याओं की बात गलत है। कोई अंग्रेज मारा नहीं गया था। अमजदअली नामक एक भारतीय मारा गया था, चेतावनी दिए जाने के बाद अमजद अपनी दुल्हन को देखने के लिए निकला था और उसे गोली लग गई थी। जहाँ तक कि अंग्रेज सैनिक अफसर की बात थी—यह मालूम हुआ कि ज्योंही ट्रेन रोकी गई, उस अफसर ने अपने अव्वल दर्जे के डिब्बे के सारे जंगले बंद कर दिए और इतने से संतुष्ट न होकर उसने अपने को पखाने के अन्दर बंद कर लिया, और तब तक बाहर नहीं निकला, जब तक ट्रेन लखनऊ नहीं पहुँची।

इन सारी घटनाओं के मकड़ी के जाले के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि उस समय तक चन्द्रशेखर आज़ाद कोई खास चमके नहीं थे और उस समय ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ा था कि वे संसार के एक महान क्रांतिकारी होने वाले हैं। बात यह है कि क्रांतिकारी का चुनाव घटनाओं के द्वारा होता है। आज़ाद घटनाओं की चलनी से छनकर आगे बढ़ते गए। ऐसा कहने का उद्देश्य किसी भी प्रकार उनको छोटा करना नहीं है, बल्कि बाद को हम देखेंगे कि कैसे उन्होंने घटनाओं पर अपने ढंग की छाप डाली। असली बात यों है कि काकोरी ट्रेन डकैती के बाद ही उनकी प्रतिभा चमकी और वे स्थिति देखकर स्वतंत्र फैसले लेने लगे।

अशफाक ने जो भविष्यवाणी की थी, वह सत्य सिद्ध हुई। हमने यह जो कहा था कि हम सरकारी खजाना लूटना चाहते हैं, किसी यात्री को लूटना हमारा उद्देश्य नहीं है, उससे हमारा राजनीतिक चरित्र सामने आ गया था। यों तो पुलिसवाले बड़े आलसी और धीरे काम करने वाले होते हैं, पर इस सूचना से उनमें बिजली दौड़ गई। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विराट आक्टोपस अपने अंगों को बहुत तेजी के साथ दौड़ाने लगा। हमने यह देखा कि एकाएक काशी बहुत गरम हो गई है। दूसरे लोग इस स्थिति की प्रतिक्रिया में सक्रिय नहीं हो सके और देखते रहे कि बादल किस करवट बैठते हैं। पर चन्द्रशेखर आज़ाद अब खुद फैसला करने लगे और भागने की तैयारी में लग गए। इसके पहले पुलिस हम पर सिर्फ निगरानी मात्र रखती थी, पर अब पुलिस का एक आदमी हर समय हम लोगों के पीछे चलने लगा। हम पर दिन-रात पहरा रहने लगा। मैं समझ गया कि अब मुझे फरार हो जाना चाहिए। पर मैं यह सोचता ही रह गया कि जिला संगठन की ओर से यह आदेश आए, पर चन्द्रशेखर आज़ाद किसी का मुँह नहीं ताकते रहे। उन्होंने भागने का अपना निजी बंदोबस्त कर लिया। यहाँ यह बता दिया जाए कि उनकी स्थिति भागने के मामले में बहुत

सुविधाजनक थी, क्योंकि कोई भी, यहाँ तक कि मेरी तरह अन्तरंग साथी भी यह नहीं जानता था कि उनका असली घर कहाँ है। उन्होंने लगभग चार साल के साहचर्य में मुझे इतना ही बताया था, बचपन में उन्हें शेर को गोश खिलाया गया था। बाद को वह जिस प्रकार महत्वपूर्ण और गौरवशाली रूप में सामने आए, उससे यह कहना सुविधाजनक होगा कि वे पहले ही से अपने संबंध में जानबूझकर चुप्पी साधे हुए थे। असली बात यों थी कि उनका घर और उनके पिता-माता बहुत मामूली थे और उनके विषय में कुछ कहने को था ही नहीं। दूसरे शब्दों में कह जाय तो यों कहना पड़ेगा कि सफल फरार होने के लिए चन्द्रशेखर आज़ाद की योग्यता उनकी पद्धति के अन्दर मौजूद थी।

जहाँ तक कि वाराणसी पुलिस का संबंध है, वे करीब-करीब इस निश्चय पर पहुँच चुकी थी कि राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी, चन्द्रशेखर आज़ाद, बक्शी और मैं ट्रेन-डकैती में भाग ले चुके थे। उसके पास यह सूचना मौजूद थी कि 9 अगस्त को हम में से कोई भी वाराणसी में नहीं था। इसलिए उन्होंने यह मान लिया था कि हम ट्रेन-डकैती में शामिल थे। पर इसमें और कौन लोग थे! यहीं पर आकर उनकी सूचना गड़बड़ा जाती थी। इसके अलावा प्रमाण भी चाहिए था। अंग्रेजों के जमाने में पुलिस झूठी गवाही और चश्मदीद गवाहों को तैयार करने में सिद्धहस्त थी। पर गवाही को सच्चा रूप देकर खड़ा करने के लिए हड्डियों का कम-से-कम एक ढाँचा जरूरी था। बाद को हमें मालूम हुआ कि इन दिनों पुलिस विभाग में बहुत-से लोग इसी बात पर रात जागते रहे कि कैसे मुकदमा खड़ा किया जाए। समस्या यह थी कि क्या जिन पर शक है उन्हें गिरफ्तार किया जाए? या नहीं। जो नरम लोग थे, वे चाहते थे कि कुछ प्रतीक्षा की जाय क्योंकि इस समय तक अंग्रेज जज के लिए भी काफी प्रमाण मौजूद नहीं था। इसके विपरीत गरम पुलिसवाले यह कहते रहे कि हमला बोल दिया जाय, सबूत बाद को आते रहेंगे, इसलिए अँधेरे में छलाँग लगाना उचित होगा।

अंत में गरम पुलिसवालों की विजय हुई और उन्होंने यह तय कर लिया कि प्रान्त भर में और उसके बाहर एक ही समय एक दिन गिरफ्तारियाँ की जाएँ। 25-26 सितम्बर की रात को संदिग्ध लोगों के घर घेर लिए गए और प्रातःकाल होते ही दरवाजे पर दस्तक सुनाई पड़ी।

वाराणसी के संदिग्ध लोगों में केवल मैं ही गिरफ्तार किया जा सका। राजेन्द्र लाहिड़ी बम बनाना सीखने के लिए कलकत्ता जा चुके थे। बक्शी दशहरा मनाने के लिए रात को नाटक देखते रहे और जब सबेरे घर लौटने को हुए तो उन्होंने कुछ संदिग्ध बातें देखीं और वह फौरन खिसक गए। रहा चन्द्रशेखर आज़ाद सो उनका कुछ भी पता नहीं था। उनके दल के लोग भी नहीं जानते थे कि वे कब किस वक्त खिसक गए। जब उनके कमरे की तलाशी ली गई और उनके पड़ोसियों से पूछा गया तो यह बहुत आश्चर्यजनक तथ्य

सामने आया कि वे हफ्तों से देखे नहीं गए। मजे की बात यह है कि अब पुलिस उन्हें देखनेवाली नहीं थी बल्कि उनके संबंध में सुननेवाली थी।

वाराणसी से विदा होने के बाद आज़ाद झाँसी पहुँच गए। यह उत्तर प्रदेश का एक निंद्रालु शहर था, जो वाराणसी से बिलकुल दूसरे छोर पर है। एक तरफ तो सारे तजुर्बेकार क्रांतिकारी जेल पहुँच चुके थे या फरार, दूसरी तरफ आज़ाद को अब यह मौका मिला कि वह अपने ढंग से चाहे जिस दिशा में दल को ले जाएँ। शचीन्द्रनाथ बक्शी कभी झाँसी आए थे और उन्होंने वहाँ एक छोटी शाखा की नींव डाली थी।

डॉक्टर माहौर लिखते है—"काकोरी के मामले में फरार हो जाने के बाद आज़ाद झाँसी आकर बस गए और अलफ्रेड पार्क इलाहाबाद में गोलियों का जवाब गोलियों से देते हुए शहीद हो जाने तक, झाँसी का केन्द्र उनका मुख्य छिपने का स्थल तथा कार्यक्षेत्र रहा। झाँसी में मास्टर रुद्रनारायण आज़ाद के मुख्य स्तंभों में से हो गए और आज़ाद उनके छोटे भाई के रूप में रहकर उनसे सब तरह की सहायता प्राप्त करते रहे। अंग्रेज सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करने की चेष्टा में कोई कसर उठा न रखी। आज़ाद पर कई हजार रुपयों का ईनाम घोषित हो चुका था।"

चन्द्रशेखर आज़ाद एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। वे मानवीय शरीर और मन की सीमाओं से अच्छी तरह परिचित थे। वह जानते थे कि जहाँ तक उनका अपना संबंध है, उनके लिए क्रांति का मार्ग ही यथेष्ट है। उन्हें विवाह और सेक्स के विषय में सोचने की फुर्सत नहीं थी। जब भी उनसे कोई विवाह की बात छेड़ता और उनसे उनके विचार पूछता, तो वे कह देते— "मेरा विवाह क्रांति के साथ हो चुका है।"

इससे उनका मतलब यह था कि क्रांतिकारी शादी नहीं कर सकता। इसी प्रकार उनके लिए सेक्स की कोई गुंजाइश नहीं थी। आज़ाद यह नहीं चाहते थे कि क्रांतिकारी शादी के झगड़े में पड़ें, पर इसका मतलब यह नहीं है कि शादी-शुदा क्रांतिकारियों को वे किसी भी तरह घटिया समझते थे। उनका तर्क इस प्रकार था— "प्यारे भाई! क्रांति पूरा समय माँगती है। यदि तुम्हारी शादी हो चुकी है और तुम यह समझते हो कि इससे फाँसी पर चढ़ने में कोई दिक्कत नहीं होगी, तुम खुशी से हम लोगों के साथ आ सकते हो। पर यदि तुमने शादी नहीं की है, तो मैं तुम्हें यही सलाह दूँगा कि तुम इस झगड़े में ने फँसो।

जब तक काकोरी का मुकदमा (1925-27) चलता रहा, चन्द्रशेखर आज़ाद तथा दल के सारे ईमानदार सदस्य इस कारण चुप रहे कि कुछ लोगों ने उन्हें राजी किया था कि चुप पड़े रहो। वही समझानेवाले लोग इस बीच बिना कुछ किए या बिना जोखिम उठाये उन कुर्सियों पर कूद गए थे, जो रामप्रसाद आदि लोगों के जेल चले जाने से खाली हो गई थीं। उनका वही एक राग था : "भई कुछ करो मत क्योंकि कुछ करोगे तो बदला

ले लिया जाएगा।''

6 अप्रैल 1927 को, जिस दिन काकोरी वालों को सजाएँ सुनाई गईं, उस तारीख तक ये हीले और बहाने ठीक थे। उस तारीख को हेमिल्टन नामक जज ने तीन काकोरी कैदियों को यानी रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह और राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को फाँसी की सजा दी थी। दो फरार बाद को पकड़े गए थे, इसलिए एक अलग मुकदमा चला, जिसमें अशफाकुल्ला को फाँसी की सजा सुनाई गई। यद्यपि ये दो मुकदमें अलग-अलग हुए, पर उनकी अपील साथ-साथ अवध की ऊँची अदालत में 6 महीने बाद सुनी गई और चारों फाँसियाँ इस प्रकार उच्च अदालत की ठप्पा पा गईं। साथ ही 5 कैदियों की सजाएँ भी बढ़ाई गईं। छठे कैदी, मेरी सजा इसलिए नहीं बढ़ाई गई कि मेरी उम्र कम थी। जो पूरक मुकद्दमा चला था उनसे यह साबित हो गया कि फाँसी देनेवाले जज के रूप में मिस्टर हेमिल्टन की जो ख्याति थी, वह उन्हीं तक सीमित नहीं थी।

दो बार फाँसी दे देने के दिन तय हुए और फाँसी रोक दी गई, पर इसके बाद 19 दिसम्बर, 1927 के सप्ताह में सबको फाँसी हो गई। पूरी बात यों है कि राजेन्द्रनाथ लाहिडी को गोंडा जेल में 17 दिसम्बर को फाँसी दे दी गई, बाकी तीन लोगों को अपनी-अपनी जेलों में सजा हो गई। लाहिड़ी को दो दिन पहले क्यों फाँसी हुई, यह रहस्य पूरी तरह खुला नहीं। मनमाड बम मामले के मनमोहन गुप्त के अनुसार लाहिड़ी को जल्दी फाँसी इसलिए दे दी गई कि यदि फाँसी उस तारीख को न दी जाती, तो क्रांतिकारी उस रात को उन्हें जेल से निकाल ले जाते।

कुछ भी हो, अब वह बहाना खतम हो गया कि और सजा बढ़ जाएगी, इसलिए चुप होकर पड़े रहो। जो पुराने नेता अभी तक गद्दी पर बैठे हुए थे, उनके नीचे से कुर्सी एकाएक खिसक गई और वे मौका देखकर अन्तरिक्ष में बिला गए। किसी ने नहीं देखा कि वे कहाँ गए, क्योंकि आज़ाद और दूसरे लोगों की आँखों में न तो वे कभी थे और न उनकी कुर्सियाँ ही थीं।

यद्यपि चन्द्रशेखर आज़ाद चुपचाप समय काट रहे थे, पर उन्होंने एक दिन भी नष्ट नहीं किया। उनके नेतृत्व में झाँसी में दल जहाँ एक तरफ अपने घावों की मरहमपट्टी कर रहा था, वहीं दूसरी तरफ वह अपनी शाखाओं को विस्तार कर रहा था। नए रंगरूट भर्ती हो रहे थे और पुराने लोग अपनी अग्निशक्ति बढ़ा रहे थे। बुंदेलखंड के जंगलों में अभ्यास करते हुए चन्द्रशेखर आजाद बहुत अच्छे निशानेबाज हो गए थे।

शालीग्राम शुक्ल ने कानपुर में नौ-जवान भारत सभा के नमूने पर युवक संघ बनाया था। आजाद ने ग्रान पार्क में दो आदमियों से मिलने का निश्चय किया था। शुक्ल उन्हें लाने वाले थे। वहीं शुक्ल की टोह में पुलिस-अधिकारी शम्भूनाथ मौजूद था। इस पुलिस

टुकड़ी के अतिरिक्त एक तीसरी टुकड़ी भी थी जिसे सैनिक सहायक (military auseiliary force) टुकड़ी कहते थे। सैनिक टुकड़ी और पुलिस टुकड़ी एक-दूसरे के अस्तित्व से परिचित नहीं थी। अभी तक अंधेरा था। सड़क में मरम्मत हो रही थी और चारों तरफ गड्ढे खुदे हुए थे। इन सारी बातों के अलावा शुक्ल जिस साइकिल पर सवार थे वह बुरी हालत में थी और पहले ही गड्ढे में गिर पड़ी। गड्ढे में गिरना था कि सैनिक टुकड़ी ने गोली चलाई। शुक्ल घायल होकर गिर पड़े। इसके ऐन बाद आजाद उस सड़क से निकले तो उन्होंने एक आदमी को पड़ा देखा। शालीग्राम ने भी आजाद को देखा होगा, पर वे चुप रहे कि आजाद सही सलामत निकल जाएँ। जब रोशनी कुछ बढी, तो पुलिसवाले देखने आए दिया। इसके बाद वे मर गए।

मोतीलाल नेहरू मर चुके थे और गाँधी–इर्विन वार्ता जारी थी। गाँधी या नेहरू किसी से भी आजाद को इस बात की कोई गारंटी नहीं मिली कि यदि समझौता हो भी गया तो फरार क्रान्तिकारियों को अपने छिपे स्थानों से निकलकर जाने दिया जाएगा। मैंने अपनी पुस्तक "भगतसिंह और उनका युग" में ब्यौरेवार तरीके से यह दिखलाया है कि गाँधी ने भगतसिंह आदि को फाँसी से बचाने के लिए कितना क्या किया? कुछ लोग यह समझते है कि व्यावहारिक व्यक्ति के नाते गाँधी ने भगतसिंह और उनके साथियों को छुड़ाना शर्तनामे की शर्तों में नहीं रखा। असल में गाँधी में वह साहस नहीं था, नहीं तो इतने महान आंदोलन के सेनापति होते हुए वे तीन लाहौर कैदियों और बंगाल के अन्य फाँसीवालों को छुड़ाने की माँग कर सकते थे।

1931 की 27 फरवरी को चन्दशेखर आजाद गोलियों से खेलते हुए मारे गए। कि यशपाल के अनुसार दल तोड़ दिया गया था, केन्द्रीय समिति तितर-बितर कर दी गई थी। नेहरू के दूत ने आजाद के लिए पन्द्रह सौ रुपये दिये थे ताकि वह देश छोड़ जाएँ। इसमें से आजाद के पास 500 रुपए थे। यशपाल ने यह भी माना है कि 26-27 की रात को हम लोग यानि आजाद आदि यूरोप जाने की बातचीत कर रहे थे।

वे लिखते है—

हमें ऐसे इलाके से गुजराना था जो बिलकुल दोस्ताना नहीं था, इसलिए हम पर कोई भी खतरा हो सकता था और हमें कोई भी रोग हो सकता था। इसलिए हमने सोचा कि हमें कुछ जरूरी दवाएँ ले जानी चाहिए। इसके अलावा पंजाब और उसके आगे जाड़ा बहुत मिलने वाला था, इसलिए हम चौक से दो स्वेटर लेना चाहते थे।

"उस सौभाग्यिक प्रातः काल आजाद ने कहा—मुझे किसी से अलफ्रेड पार्क में मिलना है। अब हम जाते है। और तुम लोग अपना काम करो। यशपाल आगे लिखते है—हममें से तीन अलफ्रेडपार्क के सामने से साइकिलों पर जा रहे थे। सुखदेवराज एक साइकिल

पर पार्क में घुसते दिखाई पड़े, जिससे मैंने यह नतीजा निकाला कि आजाद सुखदेवराज से मिलना चाहते हैं। आजाद सुखदेवराज से जब-तब मिला करते थे। हम लोग चौक की तरफ चले गए।''

जब यशपाल दवाइयाँ और स्वेटर खरीद कर लौट रहे थे तो उनको किसी ने बताया कि अलफ्रेडपार्क में गोलियाँ चली है। यशपाल अलफ्रेड पार्क जाना चाहते थे, पर पाण्डेय ने यह बताया कि ऐसा करना जानबूझ कर पुलिस के जाल में पड़ना होगा। इस बात के बावजूद वे चुपके से उस तरफ गए और देखा कि पार्क में भीड़ जमा है। भीड़ के अनुसार दो क्रांतिकारी थे और कोई 50 या 70 पुलिसवाले थे। उस समय हालिन्स पुलिस के प्रान्तीय प्रधान थे। बाद को हालिन्स ने 1934 अक्टूबर के 'मैन ओनली' में यह लिखा कि आजाद की पहली गोली अंग्रेज पुलिस सुपरिंटेंडेंट नाटबावर पर लगी पर झाड़ियों के पीछे से पुलिस टुकड़ी ने गोली चलाई और आजाद को दो-तीन गोलियाँ लगीं। आजाद खून से लतपथ हो गए। उस हालत में भी यह निशाना बहुत प्रशंसनीय था। हालिन्स के अनुसार पुलिस टुकड़ी की एक गोली से आजाद मारे गए, पर जो लोग वहाँ देख रहे थे, उनके उनुसार दो में से एक क्रान्तिकारी भाग निकला और दूसरे ने अपने कनपटी में गोली मार ली। यहाँ तक कि जब आजाद गिर गए, तो भी पुलिसवाले उनके पास आने से कतराते रहे। यह जाने के लिए कि वे सचमुच मर चुके हैं, उन्होंने उन पर कई गोलियाँ चलाई और तब वे उनके शरीर को लारी पर ले गए। बाद को एक पुलिस-विज्ञप्ति में कहा गया कि, उनके पास से पाँच सौ रुपए मिले। यशपाल का कहना है कि ये वही पंद्रह सौ रुपए थे जो नेहरू ने भेजे थे।

जिस समय आजाद घेर कर मारे गए, उस समय सुखदेवराज उनके साथ था। सुखदेवराज के अनुसार आजाद ने उन्हें भाग जाने की अनुमति दी थी। पर यशपाल ने सुखदेवराज के इस बयान पर खास विश्वास नहीं किया। वे कहते हैं कि यह बहुत आश्चर्यजनक है कि पुलिस टुकड़ी के किसी आदमी ने भागते हुए सुखदेवराज पर गोली नहीं चलाई।

यशपाल के अनुसार सुखदेवराज ने ही यह कहानी गढ़ी कि जब आजाद और वे बातचीत कर रहे थे, तो आजाद ने मेयो कालेज को जाने वाली सड़क की तरफ दिखाते हुए कहा—यह रहा वीरभद्र। कहीं उसने हमें देखा न हो।

यशपाल का कहना है कि सुखदेवराज ने यह जो कहानी फैलाई, उसीसे यह ख्याल फैल गया कि वीरभद्र ने आजाद के साथ धोखा किया। यशपाल फिर भी इस बात को लिख गए कि बाद को वीरभद्र ने आज और दिनमान के सम्पादकों से यह लिखा कि आजाद और उसके बीच में जो गलतफहमियाँ पैदा हुई थी, उनके कारण वीरभद्र उस कलंक दिवस

पर छह बजे सुबह इलाहाबाद पहुँचा था। वीरभद्र का कहना यह है कि नौ बजे तक वह, आज़ाद तथा अपने बीच जो सम्पर्क वाला व्यक्ति था, उससे सम्पर्क नहीं कर सका। दूसरे शब्दों में वीरभद्र ने इतना मान लिया कि वह उस दिन इलाहाबाद में था।

सुखदेवराज ने बाद को उस घातक दिवस के बारे में लिखा—"आजाद की स्थिति बहुत ही गम्भीर थी। उनके साथी महान विपत्ति में थे। एक-एक करके विश्वासपात्र साथी गिरफ्तार होते जा रहे थे। वे यह नहीं समझ पा रहे थे कि यशपाल और वीरभद्र क्या करना चाहते हैं।"

सुखदेव के अनुसार—

"आजाद और सुखदेव पार्क के बाहर मिले। एक आदमी पुलिया पर बैठकर दंतवन कर रहा था। उसने आजाद को शक की निगाह से देखा। सुखदेवराज ने आजाद को इस बारे में बताया, तब मैं उस आदमी देखने गया, पर वह दूसरी तरफ मुँह फेरे था। आजाद ने सुखदेवराज से पूछा—क्या तुम बर्मा गए हो?"

सुखदेवराज ने कहा –'हाँ'।

उस युग में बर्मा भारत का अंश था और बिना पासपोर्ट के जाया जा सकता था। वहाँ से कोई भी ब्रिटिश साम्राज्य के चंगुल से निकल सकता था। आजाद ने पूछा—क्या यह सम्भव है कि बर्मा होकर हमारे कुछ साथी निकल जाएँ।

सुखदेवराज ने कहा—'ऐसा सम्भव है।'

यह ध्यान देने योग्य है कि आजाद अपने बारे में नहीं सोच रहे थे। जब वे यहाँ तक बात कर चुके थे, उस समय आजाद ने वीरभद्र को देखा और कहा –वह रहा वीरभद्र उसने हमें देखा न हो।

इसके बाद एक कार आकर रुकी। उसमें से एक गोरा पिस्तौल लेकर आजाद की ओर बढ़ा। पिस्तौल दिखाते हुए उसने अंग्रजी में उन दोनों से कहा—' तुम कौन हो और यहाँ क्या कर रहे हो?'

उसने गोली चलाई और लड़ाई शुरू हो गई। आजाद के घुटने में गोली लगी और अफसर के कन्धों पर गोली लगी। अफसर ने मौलश्री पेड़ की आड़ में स्थान लिया, और उसका आर्दली भी आ गया। एक क्षण के लिए लड़ाई रुकी और आजाद ने मुझसे कहा—मेरे घुटने में चोट आई है, शिराज तुम भाग जाओ। आजाद की आज्ञा पाकर मैंने यह देखा कि भागने का रास्ता है भी या नहीं । बाईं तरफ एक समरहाउस था मैं उसकी तरफ भागा। मुझपर कुछ गोलियाँ चलीं पर मुझे गोली नहीं लगी। समरहाउस तारों से घिरा था, पर मैं उसे कूद कर सड़क पर हो गया। मैंने देखा कि एक लड़का साइकिल पर जा रहा है। मैंने उसे पिस्तौल दिखाई और उसकी साइकिल अपने कब्जे में कर ली। वहाँ से होकर

मैं पुस्तकालय पहुँचा और वहाँ से चाँद प्रेस पहुँच गया। रामरिख सहगल हमारे सहानुभूति रखने वालों में से थे। मैं उस जमाने में भविष्य के संपादकीय विभाग में काम करता था। सहगल मेरा असली नाम जानते थे। मैंने सारी घटना बता दी. तो उन्होंने कहा ट्रस्ट रजिस्टर पर दस्तखत करके में अपनी जगह बैठ जाऊँ। बाद को सुखदेवराज ने साइकिल वाले को साइकिल लौटा दी, क्योंकि उसका पता अखबारों में छपा था। उस साइकिल के साथ यह नोट लिखा था—एच. एस. आर. ए. के एक सैनिक ने बहुत अनियमित परिस्थितियों में आपसे साइकिल उधार ली थी। अब साइकिल लौटाई जा रही है।

बहुत सालों के बाद जुलाई 1967 में वैशम्पायन सुखदेवराज से मिर्जापुर में मिले। बदुकानाथ अग्रवाल ने दोनों को इस उद्देश्य से मिलाया था कि यह पता लगे कि किन परिस्थितियों में आजाद शहीद हुए थे। वह उत्तर भारत के प्रसिद्ध दैनिक लीडर में गए और वहाँ उन्होंने देखा कि एक मार्च 1931 के अखबार में आजाद के इस शहादात की खबर छपी है। इस खबर में सिर्फ इतना ही कहा गया था कि पुलिस अधिकारी विश्वेश्वर सिंह ने संदेहजनक स्थिति मे दो युवकों को एक पार्क में बैठे देखा था। नाटबाबर ने भी इस खबर का समर्थन किया और इस छपी खबर से सूचना देने वाले या देने वालों का कोई पता नहीं लगता था। नाट बाबर के बयान में यह स्पष्ट हो गया कि दूसरे आदमी पर भी गोलियाँ चलाई गई थीं, पर सुखदेवराज पुलिस का आदमी था, तो उसे बचाने के लिए यह बात कही गई ऐसा हो सकता है। आजाद के संबंध में जो खबर लीडर मे छपी थी, उसमें नाटबाबर ने यह कहा था कि पहले ही मुहूर्त में आजाद के पैर में गोली लगी थी, पर वह किसी तरह न तो घबराए और न रुके और अन्त तक लड़ते रहे।

वैशम्पायन ने मरने के बाद जाँच के ब्यौरे भी इकट्ठे किये। डाक्टरी जाँच लेफ्टिनेंट कर्नल टाउनसेन्ड ने की और दो डाक्टरों ने गार्ड और राधे मोहनलाल ने उनकी सहायता की। आजाद के दाहिने पैर के नीचे के हिस्से में दो गोलियाँ लगी थी। गोलियों से टीबिया हड्डी टूट गई थी। दाहिने जाँघ से एक गोली निकाली गई। गोलियाँ बहुत घातक थीं। एक ललाट के दाहिने हिस्से पर और दूसरी छाती पर। जो गोली उनके सिर में लगी थी वह हड्डी भेदकर पैरी परिकटन हड्डी में पहुँच गई थी। वैशम्पायन इससे यह नतीजा निकालते है कि डाक्टरी जाँच ये यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने अपने को गोली मारी थी। यदि उन्होंने अपने को गोली मारी होती तो उनके बाल और उनके चमड़े झुलस जाते।

अब प्रश्न यह उठता है कि किसने विश्वासघात किया, तो इस पर यर तथ्य सामने आता है कि कितने ही आदमी थे जो अकेले या मिलकर उनसे विश्वासघात कर सकते थे। इस मामले में मुझे याद है कि इलाहाबाद में आजाद की शहादत की अर्धशताब्दी के दिन मौजूद व्यक्तियों में से एक ने बिना कुछ सोचे मेरे सामने यह कहा कि यदि मै मुँह

खोलूँ तो बहुत से सिर लुढकते नजर आयेगें।

प्रमाणों से यह जाहिर है कि वीरभद्र, जो यशपाल के अनुसार डबल खुफिया था, उसके अलावा बहुत से लोग ऐसे थे जो आजाद और भगतसिंह की ख्याति से जलते थे। वे आजाद को अपने उत्थान के मार्ग में रोड़ा समझते थे। वीरभद्र वर्षों से डबल खुफिया का कार्य कर रहा था और अन्त में जाकर पुलिसवालों ने उससे कहा होगा कि या तो आजाद को गिरफ्तार करा दो या हम तुम्हें गिरफ्तार करते हैं। इस संबंध में कोई नई बात नहीं। उस समय के क्रांतिकारी नेताओं ने जो इस बात की असिलियत को अच्छी तरह जानते थे, कानपुर के रमेशचन्द्र गुप्त को दो बार वीरभद्र को मारने के लिये भेजा।

आजाद की शहादत की खबर इलाहाबाद में आग की तरह फैल गई। कुछ काँग्रेसियों के साथ पुरुषोत्तमदास टंडन ने यह माँग की कि आजाद की लाश उन्हें दी जाय। उन्हें कहा गया कि जिला मजिस्ट्रेट से मिलिए। इस बीच वाराणसी से एक काँग्रेसी नेता शिवविनायक मिश्र आ चुके थे। इन्दिरा की साहसी माता कमला नेहरु ने शिवविनायक मिश्र को खबर पहुँचायी थी। पुलिस आजाद के शरीर को बहुत घुमा-फिराकर ले गई थी। पहले वह जार्ज टाउन ले जाई गई, फिर स्टैनलेरोड होकर गंगा किनारे रसूलाबाद पहुँचाई गई। अधिकारी आजाद के शरीर से जल्दी छुट्टी चाहते थे। बाद को पुलिस वाले भगतसिंह-सुखदेव, राजगुरू की लाशों के सम्बन्ध में भी यही भय-पीड़ित तकनीक अपनाने वाली थी। जवाहारलाल नेहरु की पत्नी और इंदिरा गाँधी की माता कमला नेहरु ने गाँधी आश्रम के एक कार्यकर्ता को काशी में शिविनायक मिश्र के पास भेजा था। कार्यकर्ता ज्ञानचन्द मुरब्बेवाले के साथ रात ग्यारह बजे मिला। यहाँ बता दिया जाए कि मेरी जानकारी में आजाद ज्ञानचन्द मुरब्बेवाले के यहाँ कुछ हिसाब देखते थे, और कभी-कभी उन्हें उसके कारण कुछ पैसे मिल जाते थे। जब शिवनायक मिश्र को खबर मिली, तो पत्नी से बातचीत कर उन्होंने जोखिम उठाने की सोच ली। पर उस समय वाराणसी से इलाहाबाद को कोई गाड़ी नही जाती थी। उन्होंने कुछ मित्रों से कार माँगी, पर सफल नहीं हुए। इसलिए वे सवेरे साढ़े चार बजे की गाड़ी से रवाना हो गए। झूसी स्टेशन से उन्होंने मजिस्ट्रेट को एक तार भेजा कि मै आजाद को रिश्तेदार हूँ और आजाद की दाह-क्रिया न की जाय। असलियत यों है कि मिश्र ब्राहाण जरूर थे, पर रिश्तेदार केवल इस मायने में थे जिस मायने में सभी व्यक्ति ब्राह्मण से उत्पन्न या आदम के बेटे थे।

इलाहाबाद पहुँचकर मिश्र आनन्द भवन पहुँचे। कमला नेहरू से उन्हें ज्ञात हुआ कि लाश मृत्यु के बाद जाँच के लिए भेजी गई है। वहाँ से शिवनायकजी अस्पताल पहुँचे और उन्हें मालूम हुआ कि लाश पुलिस के भारी पहरे में कहीं भेजी गई है। वहाँ से मिश्र मजिस्ट्रेट के यहाँ पहुँचे। मजिस्ट्रेट ने उन्हें पुलिस सुपरिन्टेडेंट के पास भेजा कि लाश के सत्कार

का काम उनके हवाले है। मजिस्ट्रेट के बंगले से मिश्र सुपरिन्टेडेंट के कमरे में गए। वहाँ जो व्यक्ति मिला, वह सहायक सिद्ध नहीं हुआ और प्रश्न पूछने लगा कि तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि आजाद मर चुके है और तुम किस प्रकार के रिश्तेदार हो? उसने साथ में यह उपदेश भी जोड़ दिया— तुम्हारे भानजे साहब इतने सालों से आवारागर्दी कर रहे है, तुमने उन्हें समझाया क्यों नहीं?

मिश्र बहुत बड़े स्वतन्त्रता सेनानी थे। उन्होंने कहा—जब आपके पास इतने साधन है, फिर भी आप उनका पता नहीं पा सके, तो मैं कैसे पाता?

इस तरह की बातचीत के बाद उस दुष्ट ने दारागंज थाने के नाम एक चिट मिश्रजी को दी कि संगम में लाश गई है। चिट में यह लिखा था कि पत्र-वाहक को अन्त्येष्ठि क्रिया करने दी जाय।

सौभाग्य यह हुआ कि मिश्रजी को पद्मकान्त मालवीय एक कार में आते हुए दिखाई पड़ गए। वे उनकी कार में दारागंज गए। सब लोग त्रिवेणी से निकले तो, एक साइकिल सवार ने कहा कि लाश तो रसुलाबाद भेजी जा चुकी है, जो शहर से पाँच मील दूर है। अब कार रसूलाबाद चली। जब वे पहुँचे तो चिता जल चुकी थी। मिश्रजी आजाद को पहचान नहीं सके क्योंकि आग ने अपना काम किया था। इस पर भी मिश्र ने नई लकड़ी मँगाई और अन्तोष्टि क्रिया की। इस बीच पुरुषोतमदास टण्डन और नेहरु भी पहुँच गए।

रसूलाबाद से मिश्रजी आजाद की राख ले आए जिसमें से महान् विद्वान् आचार्य नरेन्द्रदेव ने कुछ अपने पास रख ली। आजाद की राख का जुलूस निकाला गया। संध्या समय इलाहाबाद में एक सभा हुई और यद्यपि कुछ काँग्रेसियों ने सभा का विरोध किया, लेकिन सभा सफल रही।

सुखदेव

लाहौर में ही सुखदेव को भगत सिंह के साथ फाँसी हुई थी। सुखदेव कुशाग्र बुद्धि और अत्यन्त कार्यनिपुण व्यक्ति थे। उन्होंने अमर शहीद मार्कण्डेय मिश्र से बनारस में बम तथा डायनामाइट बनाने की कला सीख ली थी तथा ठीक उसी प्रकार का एक कारखाना लाहौर में बनाना चाहा था।

यों तो वे पश्चिमी पंजाब के लायलपुर जिले के निवासी थे किन्तु जब उत्तर भारत में क्रान्तिकारी संगठन के कुछ काम, जैसे काकोरी-काण्ड आदि हुए तो उनका झुकाव पूरब की ओर हुआ। कुछ लोग जन्म से ही जैसे एक विशिष्ट स्वभाव के होते है ऐसे ही ये भी गोरी चमड़ी वालों के विरोधी स्वप्रेरणा से हुए थे।

उन्होंने सुन रखा था कि महाराष्ट्र तथा बंगाल में ऐसे लोग पाए जाते है जो देश से गोरी चमड़ी वालों के शासन को मिटाने के लिए गुप्त संगठन बना रहे हैं। सौभाग्य से उनको एक अवसर मिला। उनका एक सहपाठी था जिसके पिता धनबाद में नौकर थे, और वे शायद धनबाद के किसी ऐसे कारखाने में नौकर थे जहाँ कि कोयला क्षेत्र में काम में आनेवाले रसायनों का काम होता था। बहुत दिनों से सुखदेव का जी चाहता था कि वह पूर्वांचल के क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में किसी प्रकार से

आवें।

इसी बीच उसके साथ जो मित्र पढ़ता था, उसे तथा उसके सारे परिवार को लेने के लिए उसके पिताजी आए। व्याकुल हृदय, यानि देश-सेवा के लिए सब कुछ करने को तैयार सुखदेव के मन में एक क्षीण किरण का उदय हुआ। उसने अपने मित्र से कहा कि जब धनबाद पहुँच जाय तो वहाँ से अपना पता भेजे। उसने सुन रखा था कि धनबाद से ही बंगाल आरम्भ हो जाता है।

बंगाल के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क करने के उद्देश्य से वह धनबाद में अपने मित्र के यहाँ पहुँचा। मित्र के पिता तो धनबाद में सुखदेव को देखकर आश्चर्यचकित हो गए। पंजाब से बाहर देश के अन्य हिस्से कैसे होते है? यही देखने के लिए वह आया है, ऐसा उसने अपने मित्र के पिता से कहा।

मित्र के पिता बहुत खुश तो हुए किन्तु घर से भागकर आया या कहकर आया यह जानने के लिए उन्होंने सुखदेव के घर पत्र लिखा। जवाब आते-आते सुखदेव की इष्टसिद्धि हो गई थी। उन्होंने धनबाद में आते ही पूछ-ताछ कर जान लिया कि बारूद बनाने के सामानों की दुकान कहाँ है। उसका पता लगने पर निश्चय ही बम बनानेवालों का भी पता लग जाएगा।

हुआ भी यही। अमर शहीद मार्कण्डेय से उसकी मुलाकात हो गई। यों भी श्री मार्कण्डेय मिश्र का चेहरा देखते ही किसी तपस्वी की याद आती थी। खूब गोरा रंग तिस पर सुनहरे बाल की मुलायम खसखसी नई उगती हुई दाढ़ी; देखते ही सुखदेव ने अपने गुरु का दर्शन पाया। कुछ खरीदकर, शायद पोटास या मैनसील या ऐसी ही चीजों को खरीदकर मार्कण्डेय आगे बढ़े ही थे कि सुखदेव ने उन्हें प्रणाम किया। गुरु ने शिष्य को देखा। घनिष्टता हुई। सुखदेव काम सीखकर लाहौर में कारखाना बनाने में व्यस्त हो गए और मार्कण्डेय के जरिये दल में सम्मिलित हुए थे।

वीर सावरकर

वीर सावरकर (विनायक दामोदर सावरकर) का जन्म 28 मई, 1883 ई. को नासिक के समीप भगूर ग्राम में एक संपन्न परिवार में हुआ। उनका जन्म महाराष्ट्र के उस चिर-प्रतिष्ठित ब्राह्मण वंश में हुआ था जिसमें विगत दो शताब्दियों से निरंतर ऐसे महापुरुष जन्म लेते रहे हैं जिन्होंने अपनी प्रिय भारतभूमि की स्वतंत्रता के लिए विदेशियों से जूझते हुए अपने प्राणों की आहुति देना गौरव का चिन्ह समझा है। 1857 के क्रांति युद्ध के नेता नानासाहब पेशवा, ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करनेवाले वासुदेव बलवन्त फड़के, पूना के अंग्रेज़ अधिकारियों को गोली से उड़ाकर प्राणदंड पानेवाले चापेकर बंधु और राना डे तथा लोकमान्य तिलक भी इसी वंश में पैदा हुए थे।

सावरकर का बचपन का नाम तात्या था। इनके पिता का नाम श्री दामोदर पंत सावरकर तथा माता का नाम राधाबाई था। इनके माता-पिता दोनों ही श्री रामकृष्ण के कट्टर भक्त एवं हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठावान थे। उन्होंने महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह आदि की शौर्य-गाथाओं को सुनाकर बालक विनायक के हृदय में

देश-भक्ति एवं राष्ट्रीयता के अंकुर प्रस्फुटित कर दिए थे। विनायक का हृदय हिंदू जाति के गौरवमय इतिहास को सुनकर प्रफुल्लित होने लगा। वह हृदय में कल्पना करने लगा, "मैं भी छत्रपति शिवाजी व महाराणा प्रताप की तरह वीर बनकर हिंदू पद-पादशाही की स्थापना करूँगा, विदेशी शासकों के तख्त को चकनाचूर करके स्वतंत्र हिंदू राष्ट्र का नवनिर्माण करूँगा।"

बालक विनायक को गाँव के एक विद्यालय में दाखिल करा दिया गया। अपने मित्रों को इकट्ठा करके राष्ट्रीय पद्यों का गायन करना, धनुष-बाण चलाना, तलवार चलाना, वीररस के निर्माण करनेवाले खेल खेलना, पूर्वजों के इतिहास की जानकारी करना आदि कार्य उन्होंने उसी समय प्रारंभ कर दिए। पूना में हुए चापेकर बंधुओं के बलिदान से प्रेरित होकर उन्होंने 14-15 वर्ष की अवस्था में कुलदेवी के सम्मुख देश की स्वतंत्रता के लिए आमरण संघर्षरत रहने की भीषण प्रतिज्ञा की— "मैं भारतमाता की दास्य शृंखलाएँ तोड़ने के लिए अपना जीवन अर्पण करता हूँ। मैं गुप्त संस्थाएँ खोलूँगा, शस्त्र बनाऊँगा और समय आने पर भारतमाता की स्वतंत्रता के लिए लड़ता-लड़ता मरूँगा।"

युवकों के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ प्रज्वलित करने के लिए विनायक ने छात्र-जीवन में ही आग उगलनेवाले पोवाड़े की रचना प्रारंभ कर दी थी। उनके पोवाड़े शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु गोविंद सिंह आदि महापुरुषों की वीरता से संबंधित होते थे। देशभक्ति से ओत-प्रोत पोवाड़ों को सुनकर किशोरों की बाँहें फड़कने लगती थीं। इससे जनमानस में स्वाधीनता के प्रति नवचेतना का जागरण होने लगा। 'नासिक वैभव' पत्र में प्रकाशित विनायक के 'हिंदुस्तान का गौरव' शीर्षक लेख की कॉलेज के प्राध्यापकों व अन्य लोगों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की। उनके इन पोवाड़ों ने अनेक समाचार पत्रों में खूब ख्याति प्राप्त की। अंग्रेज़ सरकार ने इन पोवाड़ों को अपने शासन के विरुद्ध भड़काने वाला बताकर ज़ब्त कर लिया था।

कुछ बड़े होने पर उन्हें पढ़ने के लिए नासिक भेजा। सन् 1900 में वहाँ उन्होंने 'मित्र-मेला' नाम से एक संस्था बनाई। पुलिस विवरणों के अनुसार यह अपने प्रारंभ से ही एक क्रांतिकारी संस्था थी और इसका उद्देश्य सशस्त्र क्रांति द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना था। यह संस्था अपना कार्य गुप्त और प्रकट दोनों, प्रकार से करती थी। धीरे-धीरे इसकी शाखाएँ संपूर्ण भारत में व्याप्त हो गई थीं। इस संस्था में भाग लेने के लिए युवकों को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि देश को स्वाधीन करने के लिए वे अपना तन, मन, धन— सभी कुछ अर्पित करने को सदैव तैयार करेंगे। सदस्यों में देश-प्रेम की भावनाएँ भरने के लिए लोकमान्य तिलक द्वारा प्रकाशित 'केसरी' और ऐसी ही अन्य पत्र-पत्रिकाएँ मँगाई जाती थीं। इस संस्था द्वारा महाराष्ट्र के प्रमुख नगरों

में 'गणेशोत्सव' और 'शिवाजी महोत्सव' आदि कार्यक्रमों को आयोजित कर जनता में राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई जाती थी। सार्वजनिक सभाओं में क्रांतिकारी सिद्धांतों का प्रचार किया जाता था। विनायक इस सभा को 'राष्ट्रीय शिक्षणालय' के नाम से पुकारते थे। इस शिक्षणालय ने नासिक नगर को इस तीव्रता से परिवर्तित कर दिया था कि सरकार ने इस पर कड़ी निगरानी रखने के लिए विशेष आज्ञाएँ घोषित की थीं। फिर भी युवकों की शक्ति तथा हिम्मत दिन-प्रतिदिन बढ़ती रही। उसके सदस्य सावरकर को अपना नेता मानते और उनके आदेश पर सिर कटवाने के लिए भी तैयार रहते। इस प्रकार राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह भारत में सर्वप्रथम विद्यापीठ था जिसमें न केवल भूतकाल में स्वतंत्रता के लिए बलिदान हुए देशभक्त और वीरों का इतिहास ही पढ़ाया जाता था, अपितु भारत वसुंधरा की मुक्ति के लिए उनके समान देशभक्त, उनकी-सी वीरता दिखाकर हँसते-हँसते मरना भी सिखाया जाता था।

विनायक के मन में विदेशी सरकार के प्रति पूर्णतया आक्रोश उभरने लगा था। 22 जनवरी, 1901 को जब इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया का देहान्त हो गया तो अंग्रेज़ी सरकार ने समस्त देश में शोकसभाओं का आयोजन किया। सावरकर ने 'मित्र-मेला' की बैठक में इसका सख्त विरोध करते हुए कहा, "इंग्लैंड की रानी हमारे दुश्मन की रानी है। अतः हम शोक क्यों मनाएँ? यदि अपने को गुलामी की बेड़ियों में जकड़ने वाली रानी की मृत्यु पर हम शोक मनाते हैं तो यह हमारी गुलाम वृत्ति का परिचायक ही होगा।"

यह समाचार सारे अखबारों में प्रकाशित हुआ। अंग्रेज़ सरकार कुपित हो उठी। सावरकर को फर्ग्यूसन कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। उन्हीं दिनों महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक भी जनता में राष्ट्रीयता की भावनाएँ जागृत करने में लगे हुए थे। 'केसरी' का संपादन भी वे इसी विचार से करते थे। उन्होंने जैसे ही यह समाचार सुना, उनके मुख से अनायास ही निकल पड़ा, "लगता है महाराष्ट्र में शिवाजी ने पुनः जन्म ले लिया है।"

कुछ समय पश्चात् तिलक ने स्वयं सावरकर को अपने पास बुलवाया और उनके राष्ट्रीय विचारों की खूब प्रशंसा की। सावरकर ने भी तिलक के चरण स्पर्श किए और उनके आशीर्वाद माँगा। तिलक ने उन्हें उठाकर गले लगा लिया और पूर्ण सहयोग देने का वचन दिया।

सन् 1905-1906 में देश में होने वाले स्वदेशी आंदोलन में भी सावरकर ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य लोगों में राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने के लिए तथा स्वदेशी प्रचार को बढ़ाने के लिए विदेशी कपड़ों की होली जलाना था। सावरकर ने महाराष्ट्र-भर में अपने ओजस्वी भाषणों द्वारा स्वदेशी

प्रचार पर बल देना शुरू कर दिया। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के प्रति घृणा के भाव भरने शुरु कर दिए। एक सभा में जनता का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था—"विदेशी वस्त्रों को घृणित और अपवित्र समझकर अग्नि की भेंट कर दो और इस पवित्र अग्नि को साक्षी रखकर आज और अभी से स्वदेशी का व्रत धारण करो।"

इस आह्वान का जनता ने सहर्ष स्वागत किया। होली जलाने के लिए लोगों ने कोट, पैंट, टाई आदि विदेशी कपड़ों को दासता का चिह्न समझकर उतार फेंका। 22 अगस्त, 1906 को लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में पूना शहर के मध्य एक विशाल मैदान में विदेशी वस्त्रों के ढेर पर अग्नि प्रज्वलित की गई। उसकी ऊँची-ऊँची लपटों से चारों ओर खड़ी जनता उत्साहित और प्रवाहित हो उठी। धू-धू करती इस भयंकर आग को देखकर स्वयं तिलक ने कहा था, "यह आग विदेशी साम्राज्य को भी इसी प्रकार भस्म करके दम लेगी।" भारत में विदेशी वस्त्रों की यह सर्वप्रथम होली थी, जिसका सारा श्रेय सावरकर को था। इस समाचार को समाचार-पत्रों ने मुखपृष्ठ पर प्रकाशित किया। यह समाचार शीघ्र ही समस्त संसार में फैल गया। समस्त देश में अंग्रेजों की दास्ता के प्रति घृणा और तीव्र हो उठी।

फर्ग्युसन कॉलेज से निष्कासित हो जाने पर उनको बंबई विश्वविद्यालय से बी.ए. की परीक्षा देने की अनुमति मिल गई। उन्होंने बी.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। बी. ए. पास करते ही उन्होंने भारत की स्वाधीनता हेतु सशस्त्र क्रांति करने के लिए, अनेक राष्ट्रीय संस्थाओं की एक गुप्त सभा में 'अभिनव भारत' नाम से एक क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की। इस संस्था के प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी :

"छत्रपति शिवाजी के नाम पर, अपने पवित्र धर्म के नाम पर और अपने प्यारे देश के लिए पूर्व पुरुषों की कसम खाते हुए मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने राष्ट्र की पूर्ण स्वतंत्रता के लिए अंतिम साँस तक संघर्ष करता रहूँगा। मैं न तो आलस्य करूँगा और न अपने उद्देश्य से हटूँगा। मैं 'अभिनव भारत' के नियमों का पूर्णरूपेण पालन करूँगा और संस्था के कार्यक्रम को बिल्कुल गुप्त रखूँगा।"

सावरकर ने युवकों में अपने ओजस्वी भाषण से देशभक्ति की भावना भरनी शुरू कर दी। उनके ओजस्वी भाषणों ने महाराष्ट्र-भर में तहलका मचा दिया। उन्होंने पूना की एक सभा में स्वदेश के प्रति प्रेम को जागृत करने के लिए अपने उग्र भाषण में सशस्त्र क्रांति पर बल देते हुए कहा, "छत्रपति शिवाजी की सन्तानो! जिस प्रकार शिवाजी ने मुगल साम्राज्य को विध्वंस किया, सदाशिव राव भांऊ ने मुगल तख्त को चकनाचूर किया। उसी प्रकार तुम्हें अब भारत माँ को दासता की बेड़ियों में जकड़ने

वाले अंग्रेजों के अत्याचारी साम्राज्य को चकनाचूर करके स्वाधीन हिंदू राष्ट्र की स्थापना करनी है। सशस्त्र क्रांति के बल पर इस विदेशी साम्राज्य का तख्ता पलटना है।''

सन् 1906 में सुप्रसिद्ध देशभक्त पं. श्यामजीकृष्ण वर्मा की शिवाजी छात्रवृत्ति प्राप्त कर सावरकर बैरिस्टरी पढ़ने के लिए इंग्लैंड गए। पं. वर्मा के लंदन स्थित 'भारत भवन' में उनका एक वीर के रूप में शानदार स्वागत किया गया। उनको वहीं ठहराया गया। उन्होंने अपने ध्येय की सिद्धि के लिए सावधानी से कार्य आरंभ किया। अल्पकाल में ही 'भारत भवन' भारतीय क्रांति का केन्द्र बन गया। लंदन में 'अभिनव भारत' की एक शाखा को स्थापना करके उन्होंने भारतीय क्रांति युद्ध को अंतर्राष्ट्रीयता प्रदान की। वे प्रति सप्ताह लंदन के विभिन्न क्षेत्रों में सभाओं का आयोजन कर भारतीय युवकों को इटली, फ्रांस, अमरीका आदि देशों के द्वारा की गई क्रांतियों का उदाहरण देकर उनको भारत में भी क्रांति मचा देने के लिए प्रेरित करते। उन्होंने प्रथम बैठक में भारतीय युवकों को सम्बोधित करते हुए कहा, ''अंग्रेजी साम्राज्य को भारत से तभी समाप्त किया जा सकता है जबकि भारतीय युवक हाथों में शस्त्र लेकर मरने-मारने को कटिबद्ध हो जाएँ। सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही भारत की स्वाधीनता संभव है। अतः हमें भारतीय युवकों को इसके लिए तैयार करना है। उनकी शस्त्रास्त्रों से सहायता करनी है।''

उनकी प्रेरणा से हेमचंद्र दास और सेनापति बापट ने रूसी क्रांतिकारियों की सहायता से बम विद्या सीखकर भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध में बम युग का तेजस्वी अध्याय जोड़ा। अत्यंत युक्ति से लंदन से पिस्तौलो के पार्सल भेजकर उन्होंने भारतीय क्रांति-वीरों को शस्त्रों की आपूर्ति की। क्रांति की आग फैलाने के लिए 'सत्तावन का स्वातंत्र्य' और 'मैजिनी' नामक दो ग्रंथों की उन्होंने रचना की। प्रकाशन के पूर्व ही दो देशों द्वारा जब्त आदेश होने पर भी प्रथम पुस्तक का प्रकाशन कराकर उन्होंने अंग्रेज़ शासन को मात दे दी। इस ग्रंथ से उनकी तेजस्वी अलौकिक बुद्धि, तीक्ष्ण संशोधक वृत्ति, विद्वता एवं काव्यप्रतिभा का परिचय मिलता है। काव्यमय वर्णनों, अलौकिक बलिदानों की उत्तेजक कथाओं, श्रेष्ठतम ध्येयवाद के स्वातंत्र्य सूत्रों से अलंकृत यह ग्रंथ भारतीय क्रांति के वेद या गीता की प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ। राष्ट्र की अस्मिता को जागृत् करके असंख्य भारतीयों को राष्ट्रभक्ति की दिव्य प्रेरणा देनेवाले इस ग्रंथ का प्रसिद्ध क्रांतिकारी भगतसिंह नित्य पाठ करते थे। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने तो इसे आज़ाद हिंद सेना में पाठ्य-ग्रंथ के रूप में ही स्वीकार किया था। दोनों ने इसे भारी संख्या में छपवाकर जनता में मुफ्त बँटवाया। इसी ग्रंथ से प्रेरणा पाकर सुभाष वीर सावरकर से मिले थे और उनकी प्रेरणा से ही विदेश जाकर आज़ाद हिंद सेना का संगठन किया था। इस ग्रंथ के प्रचार से भारतीय यौवन स्वाधीनता के लिए मचल

उठा था। इस सबका श्रेय सावरकर की सशक्त लेखनी को दिया जा सकता है जिन्होंने 1857 की क्रांति का उद्धरण प्रस्तुत कर भारतीय जनता के सामने इसी को दोहराने के लिए कटिबद्ध कर दिया था।

भारतीय सैनिकों में स्वदेश-प्रेम की भावना जागृत करने के लिए सावरकर ने छोटे-छोटे पत्रक सैनिक भर्ती के मुख्य केन्द्रों में गुप्त रूप से भेजने शुरू कर दिए। उन पत्रकों में सैनिकों को हिंदुत्व व मातृभूमि की महत्ता बताकर गुलामी के कलंक से मुक्ति की प्रेरणा दी जाती थी। परंतु ब्रिटिश सरकार को जब इन पत्रकों का पता चला तो उन्होंने इस पर प्रतिबंध लगा दिया। सावरकर की इन गतिविधियों को देखकर ब्रिटिश सरकार उन पर एवं 'अभिनव भारत' पर सतर्कतापूर्वक निगरानी रखने लगी। उनका कहना था "यह भारतीय युवक ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारी भयंकर षड्यंत्र रच रहा है।"

उन्होंने रूस, फ्रांस, चीन, अमेरिका एवं जर्मनी आदि के समाचार-पत्रों मे स्वाधीनता के पक्ष में तर्कसंगत लेख लिखे। उनके इन लेखों मे प्रभावित होकर विदेशियों ने भारत की स्वाधीनता के लिए समर्थन किया। इंगलैंड के अनेक पत्रकारों ने भी अपने पत्रों में लिखा, "भारतीयों को स्वाधीन होने की माँग बिल्कुल न्यायोचित है। अब उन्हें अधिक समय तक पराधीन नहीं रखा जा सकता।"

विद्यार्थी सावरकर के क्रांतिकारी कार्यों से अंग्रेजी साम्राज्य दहल गया। लंदन मे कर्जन वायली को मदनलाल धींगरा ने और नासिक में कान्हेरे ने जैक्सन को गोलियों का निशाना बनाया। दमन-चक्र में सैकड़ों क्रांतिकारी पिस गए। विनायक सावरकर के ज्येष्ठ बंधु बाबाराव सावरकर को अंडमान भेजा गया। लंदन में साम्राज्य की छाती पर बैठकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सूत्रों को हिलानेवाले तरुण सावरकर को फँसाने के लिए भी प्रबंध पूरा कर लिया गया। अस्वस्थ होने पर भी वे पेरिस से ही लंदन स्टेशन पर पकड़े गए।

इसके बाद इन्हें ब्रिस्टन जेल भेज दिया गया। इनके मित्रों ने इन्हें मुक्त कराने के लिए अनेक षड्यंत्र रचे, परंतु वे सब असफल रहे। मुकद्दमा चलाने के लिए उन्हें भारत भेजने का निश्चय किया गया।

अंग्रेज सरकार ने 1 जुलाई, 1910 को इस महान् देशभक्त को 'मेरिया' नामक जहाज में बैठाकर भारत भेज दिया। लंदन मे भारत को प्रस्थान होने से पूर्व सावरकर ने वहाँ के सक्रिय क्रांतिकारियों के नाम लिखित संदेश में कहा, 'जिस प्रकार एक भारतीय नाटक के सभी पात्र मृत और जीवित भी, एक समय अंत में मिलते है, उसी तरह इस संघर्ष नाटक के सभी असंख्य पात्र भी कभी इतिहास के रंगमंच पर अवश्य मिलेंगे और तब मानवतारूपी दर्शक हमारा हर्ष से स्वागत करेंगे। तब तक के लिए मित्रों! विदा-विदा!

"मेरी लाश कहीं भी गिरे, चाहे अंडमान की अँधेरी काल-कोठरी में, अथवा गंगा की परम पवित्र धारा में, वह हमारे संघर्ष को प्रगति ही देगी। युद्ध में लड़ना और गिर पड़ना भी एक प्रकार की विजय ही है। अतः प्यारे मित्रों! विदा!"

जहाज पर इनकी देखरेख के लिए सख्त पहरा था। समुद्र की भयानक लहरों से गुजरता हुआ जहाज तीव्रगति से भारत की ओर बढ़ रहा था। सशस्त्र पुलिस के पहरे में बैठे सावरकर अपने विचारों में मग्न थे। उन्हें जेल की वह घटना अचानक स्मरण हो आई, जब एक अंग्रेज ने उन्हें सूचना दी थी कि "सावरकर, तुम्हारे दोनों भाई भी जेल के सींखचों में बंद कर दिये गये हैं।" उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया था, "मेरा यह सौभाग्य है कि हमारा सारा परिवार अपनी मातृभूमि की परतंत्रता की बेड़ियाँ काट देने के लिए सर्वस्व लुटा देने को तैयार है।"

वह अंग्रेज पत्रकार सावरकर की देशभक्ति को देखकर मुग्ध हो गया। उनके विचारों का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने अपने समाचार-पत्रों में भारत की स्वतंत्रता के समर्थन में बहुत से लेख लिखे। परिणामतः ब्रिटिश सरकार ने उसे सावरकर के साथ ही जेल में डाल दिया।

यही सब कुछ याद करते-करते सावरकर के मस्तिष्क में छत्रपति शिवाजी द्वारा औरंगजेब के कारागार से चतुरता से मुक्त होने की योजना घूम गई। उन्होंने विचार किया कि विदेशी साम्राज्य की जेलों में यातनाएँ सहन करने की अपेक्षा मुक्त होकर मातृभूमि को स्वाधीन कराने में योगदान देना कहीं अच्छा है। फाँसी पर चढ़ने की अपेक्षा अंग्रेज अधिकारियों से दो-दो हाथ करते हुए शहीद हो जाना कहीं अधिक उचित है। उन्होंने गोरों के चंगुल से मुक्त होने का निश्चय कर लिया। मार्ग में मार्सेल बन्दरगाह के निकट अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण होते ही वे विकल हो गए। स्वातंत्र्य लक्ष्मी का स्मरण कर जहाज के पोर्ट होल से फ्रांस के अथाह सागर में छलांग लगाकर, गोलियों की बौछार में तैरकर उन्होंने फ्रांस की भूमि पर पदन्यास किया। पर लोभी फ्रेंच पुलिस ने उन्हे अंग्रेज अधिकारियों को सौंप दिया। अंग्रेज पुलिस ने उन्हें हथकड़ी, बेड़ियों से जकड़कर जहाज पर चढ़ाया और भारत की ओर चल पड़े। सावरकर के अदम्य साहस की यह रोमांचकारी घटना सारे संसार में बिजली की तरह फैल गई। विश्व के सभी प्रमुख समाचार-पत्रों ने मुख-पृष्ठ पर प्रमुख रूप से इस घटना को प्रकाशित किया।

भारत में उन पर पुनः मुकदमा चला। 6 अक्तूबर, 1910 को मुकदमे का नाटक प्रारंभ हुआ। अदालत ने सावरकर को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विद्रोह की प्रेरणा देने व बम आदि शस्त्रास्त्र बनाने के आरोपों में आजीवन कारावास का दण्ड सुना दिया। सावरकर व अन्य क्रांतिकारियों ने 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' के उद्घोषों के साथ निर्णय का स्वागत किया।

जैक्सन की हत्या के दूसरे आरोप में भी उन्हें आजन्म कालापानी की सजा मिली। जज ने निर्णय में कहा—"सावरकर जैसे खूंखार अपराधी को दो आजन्म अर्थात् 50 वर्ष तक कालापानी में रखा जाए।"

युवक सावरकर को ऐसा कठोर दंड दिये जाने पर समस्त देश में क्षोभ की लहर दौड़ गई। सरकार के पास कई हजार विरोध-पत्र भेजकर उन्हें मुक्त करने की माँग की गई। किंतु अंग्रेज सरकार अपने निर्णय से टस से मस न हुई।

सावरकर को अण्डमान भेजने से पूर्व डोंगरी कारागृह में बंद कर दिया। वहाँ उन्हें उसी ऐतिहासिक बैरक में रखा गया, जिसमें लोकमान्य तिलक को दो बार रखा गया था। एक दिन अचानक उनकी पत्नी उनसे भेंट करने आ गई। भावावेश में आकर उसकी अश्रुधारा प्रवाहित हो उठी। वीर सावरकर अपनी पत्नी की तीव्र मनोव्यथा का अनुभव कर रहे थे। पर वे स्थितप्रज्ञ हो बोले—

"धीरज रखो! केवल संतान पैदा करना और खाना-पीना, मौज करना— यही मात्र मानव-जीवन का उद्देश्य नहीं है। ऐसा जीवन तो पशु-पक्षी भी बिता रहे हैं। हमें तो समाज और देश की दुर्दशा को मिटाना और भारतमाता की गुलामी की बेडियां चूर-चूर करना है। इसी उद्देश्य से हमने अपने व्यक्तिगत सुखोपभोगों का त्यागकर यह कंटकाकीर्ण मार्ग स्वेच्छा से अपनाया है। हमने स्वयं अपने हाथों अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि दे दी है, ताकि भारत के करोड़ों लोगों के कष्ट दूर हों। इसलिए चिन्ता न करो और धैर्य के साथ आनेवाली आपदाओं को सहर्ष सहन करो। यही सच्ची मानवता है। इसी में सच्चा पुरुषार्थ है।"

तरुण पत्नी ने अपने वीर पति के मुख से उपर्युक्त वीरतापूर्ण शब्द सुने तो उसका हृदय गर्व से उछलने लगा। उसने लोहे की सींखचों में हाथ देकर अपने पूज्य पति के चरण-स्पर्श किए। वीर पत्नी ने दृढ़ता से कहा—"आप चिंता न करें। मुझे क्या यह कम सुख है कि मेरा वीर पति मातृभूमि की सेवा के लिए कठोर साधना कर रहा है।"

डोंगरी जेल से सावरकर को मायखला जेल से लाया गया। वहाँ से उन्हें थाने के बंदीगृह में भेज दिया गया। अंततः एक दिन 'महाराजा' नामक जलयान से वीर सावरकर को अण्डमान निकोबार भेज दिया गया। जब उन्होंने जेल में अपना कदम रखा उस समय ब्रिटिश जेल के सुपरिंटेंडेंट ने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में पूछा—"ऐ युवक! क्या तुम इतनी लंबी अवधि की सजा भुगतने के पश्चात् जीवित रूप में वापस जाने की आशा रखते हो?" इसका प्रत्युत्तर देते हुए सावरकर ने कहा—"जेलर साहब! क्या आप समझते हैं कि उस समय तक ब्रिटिश सरकार भारत में कायम रहेगी?"

कालापानी का दंड कोई साधारण दंड नहीं होता था। कितने ही कैदी उस सजा से घबराकर आत्महत्या कर लेते थे। ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दिए गए कष्टों से

वहाँ के कैदी अपनी सजा पूरी करने से पूर्व ही दम तोड़ देते थे। आशुतोष लाहिड़ी, भाई हृदयराम सिंह और भाई परमानंद जैसे अनेक क्रांतिकारियों को पोर्ट ब्लेयर की इसी काल कोठरी में रखा गया था।

सावरकर ने अपनी आत्मकथा में कालापानी के जेल-जीवन की कुछ झाँकियाँ दी है, जिन्हें पढ़कर लगता है कि स्वतंत्रता के दीवाने अपने देश से परतंत्रता की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए कितने कष्ट हँसते-हँसते झेलते रहे। उन्होंने 'माझी जन्मपेठ' मे लिखा है—

"हमे तेल का कोल्हू चलाने का काम सौंपा गया, जो बैल के योग्य काम माना जाता है। जेल मे सबसे कठिन काम कोल्हू चलाना है— सवेरे उठते ही लँगोटी पहनकर कमरे मे बंद होना तथा शाम तक कोल्हू का डंडा हाथ मे घुमाते रहना। कोल्हू मे घानी के पड़ते ही वह इतना भारी चलने लगता कि हृष्ट-पुष्ट शरीर के व्यक्ति भी उसकी बीस फेरियाँ करके रोने लग जाते। राजनीतिक कैदियो का स्वास्थ्य खराब हो या अच्छा, ये सब सख्त काम उन्हे दिए जाते थे। सवेरे से दस बजे तक लगातार चक्कर लगाने से साँस लेना भारी हो जाता और प्राय सभी को चक्कर आ जाता और कुछ तो बेहोश भी हो जाते। दोपहर को भोजन आते ही दरवाजा खुल पडता, कैदी थाली भर लेता और अंदर जाता कि दरवाजा बंद। यदि इस बीच कोई अभागा कैदी यह कोशिश करता कि हाथ-पैर धो ले, या बदन पर थोडी धूप लगा ले तो नंबरदार का पारा चढ जाता था। वह माँ-बहन की सैकडो गालियाँ देना शुरू कर देता। हाथ धोने को पानी नहीं मिलता था। पीने के पानी के लिए ही नंबरदार के सैकडो निहोरे करने पड़ते।"

"सौ मे एकाध ही ऐसा होता जो दिन-भर कोल्हू मे जुतकर तीस पौंड तेल निकाल पाता। जो कोल्हू चलाते-चलाते थककर हाय-हाय करते उन पर जमादार की मार पड़ती। तेल पूरा न होने पर ऊपर से थप्पड पड रहे है, लाठियाँ बरस रही है, आँखो से आँसुओं की धाराएँ बह रही है।"

सावरकर ने अंडमान के बंदियो मे राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने के लिए तथा उन्हे भारत व विश्व के इतिहास से परिचित कराने के लिए 'स्वाध्याय मंडल' की स्थापना की थी। इस मंडल मे वे कैदियो को इतिहास, साहित्य, दर्शन, राजनीति तथा हिन्दू धर्म के विषय मे जानकारी देते थे। वे प्रतिदिन अपने बंदी साथियों को प्रेरणा देते थे कि मातृभूमि के लिए कुर्बान होते समय हमारे चेहरे मुस्कान मे खिले रहने चाहिए।

जब मुसलमान वार्डर अंग्रेज अधिकारियों के कहने पर हिन्दुओं पर मनमाने अत्याचार करने लगे तब सावरकर ने भी हिन्दुओं को प्रेरित किया कि वे भी कायरों की तरह चुपचाप बैठे न रहे, डटकर बदला लें। पठान मुसलमानों ने जब सहानुभूति

दिखाकर हिन्दुओं को मुसलमान बनाना शुरू किया तो प्रत्युत्तर में सावरकर शुद्धि के कार्य से मुसलमान हिन्दू को पुनः हिन्दू बना लेते थे। मुसलमानों के इन कारनामों ने सावरकर के हृदय में हिन्दू राष्ट्र की ज्योति को और अधिक प्रज्ज्वलित करने मे सहयोग दिया।

सावरकर जब भी किसी को पत्र लिखते तो पुस्तकें भेजने का आग्रह अवश्य रहता। उन्होंने जेल में लगभग 25 हजार पुस्तकें एकत्रित कर ली थीं। काल-कोठरी में भी उनकी प्रतिभा फूली-फली। टूटी कील, कोयला या नाखून से कोठरी की दीवार पर उन्होंने सहस्त्रों पंक्तियों की सुंदर-भव्य रचना की। उन्हें स्वय कंठस्थ करके एक मुक्त होनेवाले सहबंदी को कंठस्थ कराकर उन्होंने कारागार के बाहर भेजा। सरस्वती की ऐसी अनुपम आराधना किसी अन्य व्यक्ति ने संभवतः ही की हो।

वीर सावरकर 'अनशन' व 'सत्याग्रह' जैसी रीति पर किंचित भी विश्वास नहीं करते थे। अडमान को अमानवीय यातनाओ से त्रस्त होकर इन्दुभूषण राय ने आत्महत्या कर ली, उल्हासकर दत्त पागल हो गए। जब भाई परमानन्द एव श्री आशुतोष लाहिड़ी ने जेल-यातनाओ के विरुद्ध आमरण अनशन प्रारभ कर दिया तो सावरकर ने भाई परमानन्दजी को समझाते हुए कहा—"यदि कोई कार्य ही करना है तो शत्रुपक्ष की हानि अधिक हो— ऐसा कार्य करो। स्वय भूखा रहकर प्राण त्यागने से क्या लाभ?" भाईजी मान गए और अनशन त्याग दिया। सावरकर की ही प्रेरणा से इलाहाबाद के प्रसिद्ध क्रांतिकारी एवं 'स्वराज्य' के संपादक होतीलाल, जिनको कि दस वर्ष की काले-पानी की सजा मिली थी, ने अंडमान मे क्रातिकारियों पर हुए अत्याचारों का कच्चा चिट्ठा लिखा था जिसके बंगला-समाचार मे छपने पर विधान-सभा में काफी गर्म चर्चा हुई थी।

राजनीतिक कैदियो के अतिरिक्त जेल में बहुत से चोर, डाकू और कातिल भी रहा करते थे। ये लोग अधिकतर अनपढ़ थे। सावरकर रिक्त समय मे इन सबको संगठित किया करते थे। उन्होंने वहाँ प्रौढ़-शिक्षा का कार्यक्रम भी आरंभ किया। वे उन्हें अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ देशभक्ति की भावनाएँ भरने वाली कहानियाँ भी सुनाया करते थे।

यद्यपि सावरकर अपने देश से 600 मील दूर काल कोठरी मे बद थे तथापि भारतीयों ने अपने इस वीर देशभक्त को एक दिन के लिए भी नहीं भुलाया था। उनके साहसिक कृत्यो की जनता में सर्वत्र प्रशंसा की जाती थी। समाचार-पत्रों एव सार्वजनिक सभाओं में इनकी शीघ्र रिहाई के लिए अनवरत प्रयत्न किये जाते रहे। इनकी मुक्ति के लिए एक "सावरकर सप्ताह" मनाया गया और लगभग सत्तर हजार हस्ताक्षरों से एक प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेजा गया। उस समय तक किसी नेता की रिहाई के लिए इतना बड़ा आंदोलन कभी भी नहीं हुआ था।

विवश होकर सरकार ने 21 जनवरी, 1921 को वीर सावरकर को काला पानी से भारत के लिए रवाना कर दिया। भारत आने पर उन्हें महाराष्ट्र के रत्नगिरि नगर में नजरबंद कर दिया गया। उन पर राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने, वक्तव्य व भाषण देने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। सरदार भगतसिंह ने यहाँ ही उनसे भेंट की थी। उन्होंने 1857 के 'स्वातंत्र्य समर' ग्रन्थ को पुनर्मुद्रित करवाने की उनसे अनुमति माँगी थी।

रत्नगिरि में उन्होंने हिन्दू राष्ट्रीयता-सम्बन्धी साहित्य-रचना का कार्य प्रारंभ किया। उन्होंने छोटे भाई श्री नारायण राव सावरकर को प्रेरणा देकर 'श्रद्धानंद' व 'हुतात्मा' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित कराए। सावरकर ने स्वयं छह नामों से लेख व रचनाएँ पत्रों में दीं। उनकी ओजस्वी रचनाओं से युवकों ने देशभक्ति की महान प्रेरणा प्राप्त की । 'हिंदुत्व' 'हिंदू' पद 'पादशाही' 'उःशाप' 'उत्तर क्रिया' 'संन्यस्त-खडग्' आदि प्रमुख ग्रंथ उन्होंने रत्नगिरि में ही लिखे।

अंडमान से स्वदेश आने के बाद अनेक प्रतिबंधों के होते हुए सावरकर अगस्त, 1924 में नासिक ले जाए गए। वहाँ डॉ. मुंजे व जगतगुरु शंकराचार्य, डॉ. कुर्तकोटि जैसे प्रख्यात नेताओं की उपस्थिति में एक विशाल सभा में उनका हार्दिक अभिनंदन किया गया। नासिक के प्रायः सभी हिंदू नेता व हजारों नागरिक कालेराम मंदिर में उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे। उन्हें अभिनंदन-पत्र भेंट करते हुए कहा गया था—"आपकी उत्कट देशभक्ति एवं देश के लिए उठाये हुए आपके कठिन कष्टों के लिए महाराष्ट्रीय जनता के हृदय में आपके प्रति अत्यंत आदर है।"

सावरकार ने हिंदी भाषा के प्रचार व प्रसार के लिए रत्नगिरि में ही 'भाषा-शुद्धि' आंदोलन प्रारंभ किया। उन्होंने भाषा-शुद्धि नामक विस्तृत लेख में लिखा, "अपनी हिंदी भाषा को विशुद्ध बनाने के लिए हमें सबसे पहले हिंदी भाषा में घुसाए गए अंग्रेजी व उर्दू के शब्दों को निकालकर बाहर करना चाहिए। संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही हमारी विशुद्ध राष्ट्रीय भाषा है। हिंदी में अंग्रेजी—उर्दू शब्दों के मिश्रण से वह वर्णसंकरी भाषा बन गई है।" उन्होंने एक हिंदी शब्दकोष की भी रचना की। उन्होंने हिन्दू युवकों को शस्त्र संचालन की शिक्षा भी दिलवाई। उन्हीं की प्रेरणा से ही मस्जिद के सम्मुख बाजा बजाने से रोकनेवाले मुसलमानों से हिंदू युवकों ने डटकर मुकाबला किया। मुसलमानों ने जब गाँधीजी से यह कहा कि यदि भाषा-शुद्धि आंदोलन न बंद किया गया तो वे स्वाधीनता आंदोलन से हट जाएँगे। तब गाँधीजी ने सावरकर को मुसलमानों की बात मानने की सलाह दी। उस समय सावरकर ने गाँधीजी को उत्तर दिया—"मुसलमान तो स्वाधीनता आंदोलन से पहले ही दूर हैं। हम उन्हें प्रसन्न करने के लिए अपनी जाति का ह्रास कदापि स्वीकार नहीं कर सकते।"

16 वर्ष तक निरंतर नजरबंद रखने के बाद सन् 1937 में उन्हें पूर्णतया मुक्त

कर दिया गया। रिहाई का समाचार बिजली की भाँति सर्वत्र फैल गया। सहस्रों की संख्या में उन्हें बधाई के संदेश आने लगे। सन् 1937 में अहमदाबाद में हुई बैठक में वे अध्यक्ष चुने गए। तब से वे लगातार छः बार अध्यक्ष चुने गए। उनके काल में 'हिन्दू महासभा' एक महत्त्वपूर्ण अखिल भारतीय संस्था के रूप में अवतीर्ण हुई। आपने इस सभा को राजकीय कार्यों में भाग लेने को प्रवृत्त किया और देश के विभिन्न भागों का दौरा कर खूब प्रचार किया।

विभिन्न राजनीतिक दलों ने उन्हें अपने दल में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। कांग्रेस के प्रमुख नेता पं. जवाहरलाल नेहरु ने भी एक विशेष वक्तव्य द्वारा सावरकार का अभिनंदन किया और उन्हें कांग्रेस में सम्मलित होने पर ऊँचा पद देने का प्रलोभन भी दिया। उन्हीं दिनों नेताजी सुभाषचन्द बोस कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे किंतु महात्मा गाँधी के अनुरोध पर उन्होंने त्यागपत्र दे दिया था। सावरकार की रिहाई का समाचार सुनते ही उन्होंने इस महान देशभक्त को संदेश भेजा कि वे कांग्रेस का नेतृत्व स्वीकार कर लें। सावकार ने स्पष्ट शब्दों में मना कर दिया। उन्होंने कहा कि "मै अंहिसा के सिद्धातों में विश्वास नहीं करता। मै सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही स्वतत्रंता प्राप्त करने का समर्थक हूँ। अतः मै किसी ऐसे दल से संबंध नहीं रखना चाहता जो मेरे सिद्धातों के विपरीत हो।"

सुभाषजी पर उनके विचारों का इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे अब सशस्त्र क्रांति के द्वारा जनता में स्वाधीनता प्राप्त करने की भावना भरेगें। 22 जून, 1940 को सावरकर से उनकी ऐतिहासिक भेंट हुई। उनसे प्रेरणा पाकर वे विदेश चले गए और आजाद हिंद फौज का संगठन किया। सावरकरजी के सैनिकीकरण आंदोलन के कारण ही हिंद सेना को प्रशिक्षित सैनिकों की पूर्ति होती थी। स्वयं नेताजी ने अपने एक आकाशवाणी से दिए भाषण में उनके प्रति धन्यवाद और आभार प्रकट करते हुए इसे स्वीकार किया।

सावरकर ने सदैव पाकिस्तान-योजना का विरोध किया। उन्होंनि जनता को चेतावनी देते हुए कहा था— "पाकिस्तान मेरी लाश पर बनेगा" की घोषणा करने वाले नेता एक दिन मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए, पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लेगें। अतः हिंदुओं को इनके आश्वासनों में नही फँसना चाहिए। उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। सन् 1944 में राजगोपालाचार्य ने गाँधीजी को कुछ शर्तों के साथ भारत-विभाजन के समर्थन के लिए तैयार कर लिया। समस्त भारतवासी इस समाचार को सुनकर क्षुब्ध हो उठे। वीर सावरकार ने हिन्दू महासभा के तत्त्वावधान में अनेक सभाएँ करके पाकिस्तान-योजना का विरोध किया। देश का दुर्भाग्य था कि हिंदू मतदाता काँग्रेस के झूठे आश्वासनों के भ्रम में फँस गया। काँग्रेस चुनाव जीत गई। काँग्रेसी शासन ने मुस्लिम लीग के सम्मुख घुटने टेककर पाकिस्तान

स्वीकार कर लिया। 15 अगस्त, 1947 को भारत का विभाजन होकर रहा। इस महान दुखद घटना से यद्यपि सावरकर को गहरी ठेस लगी फिर भी वे इस बात से प्रसन्न थे कि किसी प्रकार भी भारत को चिरवांछित स्वंतत्रता का लाभ मिल गया।

स्वतंत्रता के बाद उनका दिल टूटकर रह गया। वह समय-समय पर भारत सरकार को चेतावनी देते रहे परंतु भारत सरकार ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। सन् 1965 के भारत-पाकिस्तान संघर्ष के बाद उनका स्वास्थ्य दिन प्रतिदिन गिरता गया और ताशकंद समझौते से तो उनके हृदय को गहरा आघात लगा। आजन्म शौर्य और साहस से मृत्यु को दूर रखने वाले सावरकार ने अंत में मृत्यु को भी मात कर दिया। 80 दिनों तक उपवास करके 26 फरवरी,1966 को उन्होंने मृत्यु का आलिंगन किया। देश के कल्याण की भावना उनमें इतनी थी कि अपने वसीयतनामा मे भी लिखा— "मेरे निधन पर हड़ताल करके, कामकाज बंद करके राष्ट्रीय हानि न की जाए।"

स्वतंत्रता के उद्‌गाता और क्रांतिकारी सेनानी के रूप में वीर सावरकार का ऐतिहासिक महत्त्व है। साथ ही राष्ट्र के मंत्रदृष्टा के रूप में भी उनका महत्त्व उससे कम नहीं। 'हिंदू को राष्ट्र मानकर हिंदुत्व ही राष्ट्रीयता है' इस सिद्धांत को उन्होंने प्रस्थापित किया। राष्ट्रवाद की नींव पर उन्होंने समाजसुधार का अमूल्य कार्य किया। स्वतंत्र राष्ट्र के लिए भाषा के महत्त्व को समझकर सर्वप्रथम सावरकारजी ने ही भाषा और लिपि-शुद्धि के आंदोलन का श्रीगणेश किया। समय-समय पर राष्ट्र को भावी संकटों से आगाह करके उन्होंने पहले ही उन संकटों को टालने के लिए उपयोगी संदेश दिए।

देशभक्ति सावरकार के जीवन का स्थायी भाव था। उनका जीवन शौर्य, साहस, धैर्य और सहनशीलता का प्रतीक है। अपने ध्येय की सिद्धि के लिए मानव दु ख, कष्ट, यातनाओं, उपेक्षाओ और अपमान का हलाहल कहाँ तक पचा सकता है, इसका उदाहरण सावरकार का पवित्र जीवन है। उन्होंने आजीवन कष्ट और यातनाएँ झेलते हुए भी विशाल अमर साहित्य का सृजन किया। साहित्य के सभी क्षेत्रों मे उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखाया। वे वक्ता भी बेजोड़ थे। अपार जनसमूह को अपने पीछे खींच लेने की अद्‌भुत शक्ति उनमें थी।

वस्तुत स्वातंत्र्य वीर सावरकार भारत के जीवित हुतात्मा है जिन्होंने अपने कार्यो द्वारा भारतीय स्वंतत्रता संग्राम के उस काल में देश के युवकों को मातृभूमि की बेदी पर सब कुछ न्यौछावर करने की प्रेरणा प्रदान की थी, जबकि इसकी देश के लिए उखाड़ फेंकने के दृढ़ संकल्प को लेकर वीर सावरकार ने अपने जीवन तक की परवाह नहीं की। इस प्रकार स्वराज्य और स्वधर्म इन दो मूल उद्देश्यों को लेकर इस महान वीर ने जीवन भर संघर्ष किया। इस महान आत्मा के प्रति भारतीयों के मन में अपार श्रद्धा है।

सुभाष चन्द्र बोस

सुभाषचन्द्र बोस का जन्म 23 फरवरी, सन् 1897 को उड़ीसा की राजधानी कटक में हुआ था। उनके पिता श्री जानकीनाथ बोस कटक के एक प्रमुख वकील थे। उनकी माता का नाम प्रभावती था। 1913 में उन्होंने प्रथम प्रयास में सम्मान सहित मैट्रिक पास किया और छात्रवृत्ति प्राप्त की। परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात, वह घर से भागकर चले गए। वह ऐसे गुरु की खोज कर रहे थे, जो उन्हें सही पथ प्रदर्शन करे। कई महीने इधर-उधर भटकने के पश्चात् वह घर लौट आए। वह कई साधुओं से मिले पर उनकी तृप्ति नहीं हुई। तीर्थयात्रा की चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार कहा था, "मुझे कृष्ण का वह रूप जो तीर्थो में पूज्य है, आकर्षित नहीं कर पाता। मै तो कृष्ण के उस रूप का पुजारी हूँ जो उन्होंने कुरुक्षेत्र में दिखाया था।"

1915 में आपने प्रेसीडेंसी कॉलेज कलकत्ता से प्रथम श्रेणी में एफ.ए. पास किया। बी.ए. में पढ़ते समय एक विशेष घटना घटी। प्रेसीडेंसी कॉलेज के मि.सी. एस. ओटन नामक एक अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। उनका आचरण भारतीयों के प्रति अपमानजनक था। उसने भारतीयों के प्रति कुछ अभद्र शब्द कहे। स्वाभिमानी सुभाष उसको सहन न कर सके। उन्होंने अन्य छात्रों से मिलकर ओटन पर हमला कर दिया।

मि. ओटन पर आक्रमण करने के कारण सुभाष को कॉलेज से निष्कासित कर दिया गया। कई अन्य छात्र भी इस हमले में सम्मिलित थे, पर पूछे जाने पर भी सुभाष ने किसी का नाम नहीं लिया और सब दोष अपने ऊपर ले लिया। फलस्वरूप सुभाष को डेढ़ वर्ष तक बिना पढ़े समय काटना पड़ा। इस समय वह कटक के छात्रों में सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक कार्य करते रहे। सन् 1917 में सर आशुतोष मुखर्जी ने उनका निष्काषन रद्द किया, तब वह कलकत्ता के स्कॉटिश चर्च कॉलेज में भर्ती हुए। उन्होंने वहाँ से 1919 में दर्शनशास्त्र में बी.ए. आनर्स प्रथम श्रेणी में पास किया। अगस्त 1920 में वह आई.सी.एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने घर लिखा, "दुर्भाग्य से मैं इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया हूँ। परन्तु, मैं अफसर बनूँगा या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। मुझे लगता है कि मैं अपने देश और ब्रिटिश साम्राज्य, दोनों की सेवा साथ नहीं कर सकता। शीघ्र ही मुझे इन दोनों में से एक को चुनना होगा।"

सुभाष ने भारत-मंत्री श्री माण्टेग्यू से साक्षात्कार किया और अपना त्यागपत्र दे दिया। माण्टेग्यू ने उन्हें पर्याप्त समझाया पर उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने जो सोच रखा था उससे उन्हें कोई प्रलोभन डिगा न सका। इंडिया ऑफिस में सर विलियम ड्यूक के पत्र के उत्तर में उनके पिता ने लिखा, "मैं अपने पुत्र के इस कार्य को गौरव की दृष्टि से देखता हूँ। मैंने उसकी इस शर्त को मंजूर करके ही उसे विलायत भेजा था।" इस पत्र को प्राप्त करके सर विलियम ड्यूक स्तब्ध रह गए। उन्होंने सुभाष से पूछा, नौजवान ! तुम अपने भोजन का क्या प्रबंध करोगे?"

"मैंने बचपन से दो आने रोज में गुजर करने की आदत डाली हुई है। दो आने मैं पैदा कर लूँगा।" सुभाष ने उत्तर दिया।

सर विलियम सुभाष का मुँह ताँकते रह गए।

पिता ने पुत्र को यह लिख भेजा—"जब तुमने देश-सेवा करने का फैसला कर लिया है, तो ईश्वर तुम्हें सफलता प्रदान करे।"

इस पर सुभाष ने जो उत्तर लिखा, वह भी उन्हीं के लायक था। उन्होंने लिखा—"पिताजी, आज मुझे आप पर जितना गर्व हो रहा है, उतना मुझे इससे पहले कभी नहीं हुआ।"

सुभाष ने आराम के जीवन की अपेक्षा देश-सेवा के कठोर मार्ग को ही अपने जीवन का मार्ग चुना। उन्होंने शोषित-पीड़ित स्वराष्ट्र की सेवा के कठिन मार्ग का अनुसरण किया। उस समय महात्मा गाँधी के नेतृत्व ने देश को नूतन उत्साह और नया कार्यक्रम दिया था। वह नया कार्यक्रम था—अंग्रेज़ों के साथ असहयोग । परन्तु गाँधीजी ने सुभाष के राजनीति में हिंसा के सुझाव को नहीं माना। गाँधीजी की

राजनीति उन्हें बहुत विचित्र और बेजान-सी प्रतीत हुई। वह गाँधीजी से मिलकर उनके पास से दु:खी और निराश लौटे।

किंतु, निराशा का यह कुहरा शीघ्र ही दूर हो गया। उन्हें जो गाँधीजी से नहीं मिला था वह कलकत्ता में देशबंधु चितरंजनदास से मिल गया। श्री दास गाँधीजी के आह्वान पर अपनी अच्छी चलती हुई वकालत को छोड़कर देश-सेवा के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चल पड़े थे। दास साहब को मालूम था कि यह नौजवान आई.सी.एस. को तिनके के समान ठुकरा चुका है। निश्चय ही, यह दो महान आत्माओं का मिलन था। दोनों की यह भेंट ऐतिहासिक सिद्ध हुई। श्री दास ने सुभाष की भावनाओं का आदर किया। उन्होंने मन में समझ लिया कि उन्हें जैसे कर्मठ सहयोगी की आवश्यकता थी, वह उन्हें मिल गया। सुभाष को भी यह लगा कि जैसे गुरु की खोज उसे थी, वह उसे मिल गया।

दास बाबू सुभाष से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सुभाष को 'नेशनल कॉलेज ऑफ कलकत्ता' का प्राचार्य बना दिया। यह कॉलेज उन विद्यार्थियों के लिए खोला गया था, जिन्हें असहयोग आंदोलन में भाग लेने के लिए राजकीय शिक्षणालयों से निकाल दिया गया था। यहाँ सुभाष ने अपने अनथक परिश्रम से इन युवकों का बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक स्तर ऊँचा किया। यहाँ एक स्वयंसेवक सेना का सूत्रपात किया। इस कार्य को कुशलता से करते हुए वे काँग्रेस के संगठन का अध्ययन भी करते जाते थे। वे बंगाल काँग्रेस के संचालन में भी अपनी योग्यता का परिचय दे रहे थे।

सुभाष को अपने विद्यार्थियों में देश के सुन्दर सपने फलित होते दिखाई देते थे और उन विद्यार्थियों को भी सुभाष के रूप में एक आदर्श हितैषी और मार्गदर्शक के दर्शन होते थे। शीघ्र ही सुभाष के संचालन में राष्ट्रीय कॉलेज का सुचारु अनुशासन और मनोयोगपूर्ण शिक्षा का उच्चस्तर चर्चा के विषय बन गए।

सार्वजनिक आंदोलन में भाग लेने का प्रथम अवसर उन्हें तब मिला जब 17 नवंबर, 1921 को प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत के विरोध में कलकत्ते में उन्होंने प्रदर्शन का नेतृत्व किया। शासन ने जनता को आदेश दिया था कि वह राजकुमार का भव्य स्वागत करे। नेताओं ने हड़ताल का आह्वान किया। कलकत्ता में इतने सफल बहिष्कार के पीछे जो असाधारण मस्तिष्क कार्य कर रहा था— वह था सुभाषचन्द्र बोस का। सुभाष बाबू के इस बढ़ते हुए वर्चस्व को देखकर अंग्रेजी सरकार दहल गई। इस प्रदर्शन के अभियोग में सुभाष को छः महीने का कारावास का दंड मिला। वह उनकी प्रथम जेल-यात्रा थी।

जेल से छूटने के बाद सुभाष ने युवक संगठन का कार्य हाथ में लिया। कलकत्ता

के आर्यसमाज हाल में 'अखिल-बंगला-युवक-समारोह' का आयोजन किया गया था। सुभाष को इस समारोह की स्वागत-समिति का अध्यक्ष बनाया गया था। उन्होंने अपने स्वागत-भाषण में युवकों को कष्ट उठाकर मातृभूमि की सेवा की प्रेरणा दी। देश की सभी ज्वलंत समस्याओं, जैसे— स्वदेशी-भावना का प्रसार, भावनात्मक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, सार्वजनिक शिक्षा, समाज-सेवा तथा अनुशासन आदि पर सुभाष ने अपने भाषण में प्रकाश डाला। भाषण इतना ओजस्वी था कि श्रोताओं के मन मोहित हो गए।

युवक-संगठन में सुभाष के हाथ उलझे ही थे कि बंगाल में भारी बाढ़ आने के कारण हज़ारों गाँव बह गए। भारी मात्रा में जनहानि एवं पशुहानि हुई। कुछ स्वयं सेवकों को लेकर वे बाढ़-पीड़ितों की सहायता में लग गए। बाढ़ पीड़ितों की सहायता पर जाने के पूर्व उनके पिता ने सुभाष से पूछा "क्या कहा? तुम जा रहे हो? अपने गांव कोदलिया में अपने घर माँ दुर्गा की पूजा होगी और तुम नहीं होंगे। क्या तुम नहीं सोच सकते कि तुम्हारे बिना मुझे कैसा लगेगा?"

सुभाष ने कहा, "नहीं पिताजी! मैं आपके साथ नहीं जा सकता। आप सब गाँव जाकर माँ दुर्गा की पूजा करें। मैं तो दीन-दुखियों रूपी वास्तविक माँ की पूजा करूँगा।"

यह थी सुभाष की धर्म-भावना। कर्तव्य की पूर्ति ही सुभाष के लिए धर्म की साधना थी।

उन्हीं दिनों दास बाबू ने 'स्वराज दल' का संगठन किया। जब स्वराज्य दल ने कलकत्ता निगम के चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया तो सुभाष को एकजुट होकर कार्य करना पड़ा। स्वराज्य दल की विजय का श्रेय सुभाष को ही था। दास बाबू निगम के मेयर बन गए और सुभाष को प्रधान कार्यपालक अधिकारी बनाया गया। उस समय सुभाष की आयु केवल 27 वर्ष थी।

सार्वजनिक रूप से कार्य करते हुए भी सुभाष किसी-न-किसी रूप में क्रांतिकारी दल से संबद्ध रहे। उन्होंने जो स्वयंसेवक दल बनाया था, उसके कुछ लोगों ने एक क्रांतिकारी दल बनाया और सुभाष का उस दल के साथ बराबर संबंध बना रहा। सुभाष की इन विप्लवकारी योजनाओं को ब्रिटिश साम्राज्य के लिए विघातक समझकर सरकार ने उन्हें 25 अक्तूबर, 1924 को गिरफ्तार कर लिया।

गिरफ्तारी के बाद सुभाष पहले कलकत्ता के अलीपुर सेंट्रल जेल में रखे गए। उसके बाद वह बरहमपुर जेल में रखे गए, जहाँ क्रांतिकारी नजरबंद रखे जाते थे। तत्पश्चात् उन्हें बर्मा की माँडले जेल में भेजा गया। वह बर्मा जेल में इस कारण भेजे गए कि सरकार समझती थी कि भारत में वह जहाँ भी रखे जाएँगे वहाँ से वह बाहर

के लोगों के साथ किसी-न-किसी प्रकार संबंध कर लेंगे। मॉंडले की जेल उन दिनों धरती पर साक्षात् नरक का उदाहरण थी। यहाँ पर आकर उनका स्वास्थ्य गिरने लगा और फिर वह बराबर बिगड़ता ही चला गया। डॉक्टरों की चेतावनी पर सरकार ने उन्हें उपचार के लिए स्वीट्जरलैंड जाने की शर्त पर छोड़ना चाहा। सुभाष ने शर्त मानने से मना कर दिया। विवश होकर सरकार को बिना शर्त छोड़ना पड़ा। 16 मई, 1927 को तीन वर्ष के कठोर कारावास के बाद वे मुक्त हुए।

सुभाष के जेलवास में ही दास बाबू की मृत्यु हो चुकी थी। जब वे छूटे, तो उन पर बंगाल के नेतृत्व का पूर्ण भार पड़ गया। उन्हीं दिनों साइमन कमीशन के भारत आगमन का बायकाट आंदोलन चल पड़ा था। सुभाष ने स्थान-स्थान पर प्रचार कार्य आरंभ किया। वह बराबर पूर्ण स्वराज्य का प्रचार कर रहे थे। सुभाष समझौता-पसंद मनोवृत्ति के विरुद्ध थे। कॉंग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में जब शासन कार्य में सहयोग देने का प्रभाव 'नेहरू-रिपोर्ट' के रूप में आया तो सुभाष ने कठोर शब्दों में उसका विरोध किया। सुभाष स्वभाव से विद्रोही और प्रगतिवादी थे। अधिकारों की भिक्षा माँगने और झुकने की नीति से वे कभी सहमत नहीं हुए।

गाँधीजी से मतभेद होते हुए भी सुभाष उनके नेतृत्व में चलाए गए सब आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। 21 अप्रैल, 1930 को दूसरे नेताओं के साथ भी जेल गए। उन दिनों अलीपुर केंद्रीय जेल में क्रांतिकारियों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था। सुभाष के विरोध करने पर जेल के पठान वार्डरों ने उन पर लाठी प्रहार किया। इससे वे कई घंटे मूर्च्छित रहे। वह सजा पूरी करके छूटे ही थे कि 26 जनवरी, 1931 को एक जुलूस का नेतृत्व करते हुए पुनः गिरफ्तार हुए। 1932 में वह बंबई से लौट रहे थे कि गिरफ्तार कर लिए गए और मार्च, 1933 तक नजरबंद रहे। इस प्रकार लगातार जेल में रहते हुए उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। सरकार ने उन्हें उपचार हेतु यूरोप जाने की अनुमति दे दी।

1935-1936 में उन्होंने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण किया। विदेशों में भ्रमण करते हुए भी वे भारतीय स्वतंत्रता के अनुकूल वातावरण बनाते रहे। वे जर्मनी, बर्लिन, रोम, पेरू, वारसा, इस्तम्बूल, बेलग्रेड और बुखारेस्त आदि स्थानों पर गए। उन्होंने अपनी पुस्तक 'इंडियन स्ट्रगल' प्रकाशित कराई। उनका विचार था—"भारत को भौतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता है और उसके लिए एक तानाशाह का शासन होना चाहिए तभी भारतवर्ष में सुधार संभव है। ऐसे दल की सरकार हो जो सैनिक अनुशासन के बंधन से बँधी हो।"

1938 में 41 वर्ष की आयु में सुभाष हरिपुर कॉंग्रेस के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी गिनती अब देश के बड़े नेताओं में होने लगी थी। विदेशों में वह गाँधी और

जवाहरलाल के बाद सर्वाधिक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ माने जाते थे। उन्होंने कॉंग्रेस को शक्ति दी और उसमें एकता लाने का प्रयास किया।

महात्मा गाँधी की इच्छा के विरुद्ध सुभाष त्रिपुरी कॉंग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। तब गाँधीजी ने कॉंग्रेस छोड़ देने की इच्छा प्रकट की। सुभाष यह नहीं चाहते थे कि उनके कारण गाँधीजी को कॉंग्रेस से बाहर जाना पड़े। इसलिए वह स्वयं कॉंग्रेस से पृथक हो गए। उन्होंने बाहर आकर 'फारवर्ड-ब्लाक' का संगठन किया। उनमें अदम्य देशभक्ति की जो भावना थी, उसने अपना भिन्न रास्ता खोज लिया।

1939 के सितंबर में द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारंभ हो चुका था। सुभाष ने बहुत पहले ही कहा था कि हमें लाभ उठाकर अंग्रेज सरकार का तख्ता उलटने की तैयारी करनी चाहिए। महायुद्ध छिड़ने पर कॉंग्रेस ने तत्काल कुछ नहीं किया। उसने केवल अपने मंत्रिमंडलों को इस्तीफा देने के लिए कह दिया। मार्च, 1940 में रामगढ़ में कांग्रेस अधिवेशन हुआ। सुभाष ने रामगढ़ में समझौता-विरोधी सम्मेलन किया, जो बहुत सफल रहा।

सुभाष बाबू अपने लक्ष्यों के लिए एक दृढ़-संकल्प क्रांतिकारी तो थे, किंतु लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया के संबंध में दुराग्रही नहीं थे। उनकी दृष्टि में सफलता के लिए संगठन अनिवार्य रूप से आवश्यक था और अनुशासित एकता ही लक्ष्य तक पहुँचानेवाला मार्ग था। किसी निश्चित समय में किसी एक तरीके का महत्त्व वे आंतरिक तथा अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के संदर्भ में आँकते थे। द्वितीय महायुद्ध के समय देश तथा विदेश में उनकी इस नीति और दाँव-पेच का सम्यक् प्रमाण मिला।

सुभाष ने हालवेल स्मारक के संबंध में सत्याग्रह शुरू कर दिया। वह भारत रक्षा कानून के अंतर्गत गिरफ्तार कर लिए गए। ऐसे स्वर्णिम अवसर को वे जेल के सींखचों में बंद रहकर नहीं व्यतीत करना चाहते थे। अतएव उन्होंने जेल में आमरण उपवास की घोषणा कर दी। सरकार ने भयभीत होकर उन्हें घर में नजरबंद कर दिया। सुभाष की यह अंतिम जेल-यात्रा थी, क्योंकि इसके पश्चात् वह अपने देश से पलायन कर गए।

सुभाष संकट के समय भारतवर्ष से बाहर जाने को क्यों विवश हुए इस संबंध में उनका कहना था—

"अंग्रेज़ भारत को तब तक स्वतंत्र नहीं कर सकता जब तक हिंसात्मक क्रांति नहीं की जाएगी। अंग्रेजों ने किसी भी देश को सरलता से स्वतंत्र नहीं किया। युद्ध के समय भारत की जेल में सड़ने से यह अच्छा है कि मैं विदेश में रहकर अपने देश के लिए कुछ करूँ। मुझे ईश्वर में विश्वास है। मैं समझता हूँ कि भारत के लोग अपनी राजनीतिक भूलों के कारण परेशानी भुगत रहे हैं और इसका केवल यही

उपचार है कि हम अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता प्राप्त करें। मुझे भारत का भविष्य दिखाई पड़ रहा है और हम भारत-माता की रक्षा करने के लिए रक्त की प्रत्येक बूँद बहा देंगे।"

सुभाष पेशावर एवं काबुल होते हुए सकुशल बर्लिन पहुँच गए। वह जर्मन पहुँचकर हिटलर से मिले। अंग्रेज़ सरकार को उनके जर्मनी पहुँचने का समाचार उस समय मिला जब अचानक एक दिन जर्मन रेडियो से सुभाष की सिंह-गर्जना सुनाई दी—"हमें अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अंग्रेज़ों से समझौता नहीं करना है। हमें स्वतंत्रता के लिए भीतर और बाहर, दोनों मोर्चों पर लड़ना है। हमें अपना संघर्ष जारी रखना है और हम अपना उद्देश्य प्राप्त करके रहेंगे।"

जापान से एक भारतीय क्रांतिकारी रासबिहारी बोस का निमंत्रण पाकर वे वहाँ चल दिए। सुभाष के वहाँ पहुँचते ही सारे पूर्वी एशिया के भारतीयों में एक सनसनी फैल गई। उनके दर्शन से प्रवासी भारतीयों में अदम्य विश्वास उत्पन्न हुआ। वहाँ 'आजाद हिंद फौज' लगभग समाप्त हो चुकी थी। सन् 1943 में एक समारोह में रासबिहारी बोस ने भाषण देते हुए कहा—

"मैं बूढ़ा हो गया हूँ''वह एक मुझसे अधिक जवान व्यक्ति का काम है और सुभाषचन्द्र बोस सौभाग्य से भारत में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसका प्रतिनिधित्व करते है। मैं आज आजाद हिंद फौज का मुख्य सेनापतित्व सुभाषबाबू को सौंपता हूँ।"

सुभाष ने बन्दी भारतीय सैनिकों तथा प्रवासी भारतीयों की एक सुसंगठित सेना बनाई। उसकी प्रार्थना पर प्रवासी भारतीयों ने तन, मन एवं धन से साथ दिया। लाखों रुपए चंदे में आने लगे। एक मुसलमान व्यापारी ने लगभग एक करोड़ रुपए की सम्पत्ति नकद और हीरे आदि दिए और स्वयं बिल्कुल भिखारी हो गया। इनका जोशीला भाषण सुनकर कई भारतीयों ने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। उनके भाषण का एक अंश—

"प्रथम विश्व-युद्ध से ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हम लोगों को धोखा देते चले आ रहे है। पर अब हम उसे सहन नहीं कर सकते। बहुत समय से हम लोग अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते चले आ रहे हैं। अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद ने हमारे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक ढाँचे को नष्ट कर दिया है। हम जानते है कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए इस समय जितना अच्छा अवसर है वह आगे सौ वर्षों में भी न आएगा। यह हमारा कर्तव्य है कि हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए रक्त दें। यदि हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए त्याग करें तो हम उसे स्थिर भी रख सकेंगे। शत्रु ने तलवार निकाली है अतः हमें भी अब तलवार से लड़ना पड़ेगा। असहयोग आंदोलन को अब हमें सशस्त्र लड़ाई में बदल देना है।"

आजाद हिंद सेना का इतिहास भारत की स्वतंत्रता के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाएगा। इससे पूर्व कभी भारत की स्वाधीनता के लिए सेना का इतना संगठन नहीं किया गया था। अंग्रेज़ सेना जब मलाया से भागी तो मलाया में सात लाख हिन्दुस्तानी थे। अंग्रेज अफसर इन हिन्दुस्तानी नागरिकों को अरक्षित अवस्था में छोड़कर भाग गए थे। इन नागरिकों में से बहुत से जवान आजाद हिंद सेना में भर्ती हो गए।

आजाद हिंद सेना का झंडा तिरंगा ही था। 'जयहिंद' इसकी सलामी थी। हिंदू या मुसलमान सब परस्पर 'जयहिंद' कहकर भेंट करते थे। सब सैनिक एक साथ भोजन करते थे। इस संगठन की भाषा हिंदुस्तानी और लिपि रोमन थी। जो लोग इस सेना में प्रवेश होते थे, उन्हें निम्नलिखित प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे।

"मैं स्वयं आजाद हिंद सेना में भर्ती होता हूँ। भारत की स्वतंत्रता के लिए तन, मन, धन न्यौछावर कर देने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ। भारत की स्वतंत्रता के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने को भी तैयार हूँ। मैं स्वार्थ को छोड़कर अपने देश की सेवा करूँगा। देशवासियों से चाहे वह किसी जाति, सम्प्रदाय व प्रांत के हों, किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखूँगा और सभी भारतीयों को अपना भाई समझूँगा।"

सिंगापुर में भारतीय स्वतंत्रता लीग की बैठक में भाग लेने सुभाष जब पहुँचे तो सभी भारतीयों ने उनको अपना नेता माना और पूर्ण सहायता देने का वचन दिया। उन्होंने अपने देशवासियों को संबोधित करते हुए कहा—

"मत भूलो कि गुलाम रहने से बड़ा और कोई अभिशाप मनुष्य के लिए नहीं है। मत भूलो कि अन्याय-उत्पीड़न से समझौता करना सबसे बड़ा पाप है। सनातन नियम याद रखो—यदि तुम जीवन प्राप्त करना चाहते हो तो पहले उसका उत्सर्ग करो। यह भी याद रखो कि अन्याय के विरुद्ध लड़ना सबसे बड़ा गुण है फिर चाहे उसके लिए जो मूल्य चुकाना पड़े।"

सिंगापुर की सार्वजनिक सभा में स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार की स्थापना की घोषणा की गई। सुभाष बाबू ने अपने अन्य मंत्रियों के साथ सरकार के प्रति निष्ठा की शपथ ली। सभा में सात हजार भारतीय उपस्थित थे।

अगले दिन पचास हजार नागरिकों का प्रदर्शन हुआ जिसमें आजाद हिंद फौज ने इंग्लैंड और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। आजाद हिंद सेना ने पूर्ण प्रबंध कर लिया था। इस अवसर पर अपनी सेना के सामने भाषण देते हुए सुभाष ने कहा—

"भारत के सिपाहियो! वहाँ दूर पर, नदियों और जंगलों और पहाड़ों के पार हमारा देश है—जहाँ की मिट्टी से हम सब बने है, जहाँ अब हम जा रहे है। सुनो!

भारतवर्ष पुकार रहा है। भारतवर्ष की राजधानी, दिल्ली, तुम्हें पुकार रही है। खून, खून को पुकार रहा है। उठो! अब समय खोने के लिए नहीं है। हथियार उठाओ! दिल्ली का रास्ता आजादी का रास्ता है। दिल्ली चलो!''

''साथियो! मेरे सिपाहियो! आपका नारा है—'दिल्ली चलो!' स्वतंत्रता की लड़ाई में, आप में से कितने जीवित रहेंगे, यह मैं नहीं जानता। किंतु इतना अवश्य जानता हूँ कि हम लोग विजयी होंगे और अवश्य होंगे। हमारा काम तब तक समाप्त नहीं होगा, जब तक हमारे जवान दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में विजय की परेड नहीं करते। आज मैं तुम्हें भूख-प्यास, पीड़ा और बेबसी के अतिरिक्त कुछ आश्वासन नहीं दे सकता।''

एक अन्य परेड में उन्होंने कहा—

''भारतवर्ष में एक भी ऐसा राष्ट्रीय नेता नहीं है जो यह दावा कर सके कि उसे विभिन्न प्रकार के अनुभव है, जैसे मैंने प्राप्त किये है। स्वतंत्रता का केवल एक मार्ग है—लड़ना, निरंतर लड़ना। जिस जाति में अत्याचारियों के विरुद्ध घृणा, बदले और हिंसा की भावना नहीं जगती वह जाति इसी योग्य है कि परतंत्र बनी रहे।''

भारतवर्ष में स्वतंत्रता के लिए जो लड़ाई लड़ी जा रही थी उससे अंग्रेज़ों को हटाना संभव न था। विदेशी सहायता से ही ऐसा संभव था। सुभाष का लक्ष्य था तीन लाख की सेना और 30 करोड़ डालर मुद्रा का प्रबंध करना। वे बर्मा के स्वतंत्रता-समारोह में भाग लेने रंगून गए। रंगून के प्रसिद्ध जुबली हाल में उनका भाषण हुआ। हाल ठसाठस भरा हुआ था। लोग अपने प्रिय नेता सुभाष की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके आते ही आकाश 'जयहिंद' और 'नेताजी जिंदाबाद' के नारों से गूँज उठा। सुभाष का वह ऐतिहासिक भाषण आज भी स्मरणीय है—

''स्वतंत्रता बलिदान चाहती है। उसके लिए सब कुछ देना है। आपने आजादी के लिए बहुत त्याग किया है, किंतु अभी प्राणों की आहुति देना शेष है। आजादी को आज अपने शीश-फूल चढ़ा देनेवाले पागल पुजारियों की आवश्यकता है। हमें ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जो अपने हाथों से अपना सिर काटकर स्वाधीनता देवी की भेंट चढ़ा सकें। आप मुझे अपना खून दें, मैं आपको आजादी दूँगा।''

हाल में सन्नाटा छा गया। लोगों के हृदय जोश से भर गए। सहसा हाल में कई नौजवानों ने कहा—''हम! अपना खून देंगे।''

इतनी भीड़ को चीरते हुए 17 कुमारियाँ आगे बढ़ीं और उन्होंने अपनी कमर से छुरियाँ निकालकर अपनी अँगुली पर घाव किया और रक्त बिंदुओं से स्वतंत्रता के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किए।

आजाद हिंद सेना के सैनिकों ने सुभाष के साथ हिंदुस्तान की मिट्टी को हाथ में

लेकर यह प्रण किया कि "जब तक हिंदुस्तान स्वतंत्र नहीं होगा, हम पीछे नहीं हटेंगे।"

अपनी मातृभूमि की ओर निरंतर बढ़ते हुए आजाद हिंद फौज ने बर्मा की सीमा पार कर 18 मार्च 1944 को भारत की धरती पर पैर रखे। सैनिकों को अपनी जन्मभूमि का दर्शन करके असीम प्रसन्नता हुई। उन्होंने प्रेम-विह्वल होकर भारतमाता की मिट्टी को चूमा। वह बहादुर सेना तब कोहिमा और इंफाल की ओर बढ़ी। डेढ़ वर्ष तक लड़ाई होती रही। सहस्रों सैनिकों ने प्राणों की आहुति दी। 'जयहिंद' और 'नेताजी जिंदाबाद' के गगनभेदी नारों के साथ स्वतंत्र भारत का झंडा वहां फहराया गया। परंतु हिरोशिमा और नागासाकी पर अमरीकी बम वर्षा ने जापान को हथियार डालने पर मजबूर कर दिया। साथ ही वर्षा के रूप में प्रकृति ने ऐसा भयानक रूप ग्रहण किया कि अन्त में आजाद हिंद सेना को पीछे हटना पड़ा। बाद में आजाद हिंद सेना के सिपाही कैद कर लिए गए। इन सैनिकों को दिल्ली के लाल किले तथा अन्य स्थानों पर बंदी बनाकर मुकद्दमे चलाए गए। मुकदमे से भारत में जनमत तैयार हुआ। जनता में जोश उमड़ा। ब्रिटिश फौज में जो भारतीय थे, उनमें बहुत जोश फैला। सरकार सावधान हो गई। उन्हें नाममात्र सजाएँ दी गईं।

रंगून पर अंग्रेजों का पुनः कब्जा होने से पूर्व ही सुभाष बाबू हवाई जहाज से जापान के लिए रवाना हो गए थे। वह 18 अगस्त 1945 में हवाई जहाज दुर्घटना का शिकार हो गए। जहाज को आग लगी, वह अग्नि ही भारत के सहस्रों युवकों के हृदय-सम्राट बोस की चिता बन गई।

अपने शौर्य और संगठन-शक्ति द्वारा मानवता का उद्धार करनेवाली विश्व की अमर विभूतियों की कोटि में नेताजी सुभाषचंद्र बोस का नाम सहज ही गिनाया जा सकता है। यद्यपि विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की कोशिश में सुभाषचंद्र को तत्कालीन सफलता नहीं मिली, परंतु स्वतंत्रता के जिस बीज को उन्होंने अपने खून से सींचा था, वह आज शान से फल-फूल रहा है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम और आधुनिक भारत के निर्माताओं में नेताजी का नाम सदैव अमर रहेगा।

सरदार भगतसिंह

इनमें वे सब गुण मिलते हैं जिनका होना एक आदर्श क्रांतिकारी के लिए अत्यावश्यक है। वे सामरिक कार्यों में किसी से पीछे नहीं थे। त्याग में वे अतुलनीय थे। अनशन करने तथा लोहा लेने में वे सर्वदा अग्रसर रहते थे; इसके साथ-ही-साथ उनके विचार अत्यंत मँजे हुए और पक्के थे। उनमें केवल विचार ही नहीं थे बल्कि उन विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए ~~, दरजे का त्याग करने के लिए तैयार रहते थे। यह कहना गलत होगा कि सरदार भगतसिंह एक सिक्ख थे। नहीं, वे सिक्ख नहीं थे, वे एक कामरेड थे; सब प्रकार की सांप्रदायिक अन्धता से वे दूर थे। इस दृष्टि से जब मैं काकोरी के शहीदों के साथ उनकी तुलना करता हूँ तो यह पाता हूँ कि काकोरी के शहीदों के विचार कम क्रांतिकारी थे। बल्कि मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि उनके विचार असंगत थे। क्योंकि जिस सामाजिक तथा राजनीतिक ढाँचे को वे लाना चाहते थे, उसके पीछे जिस दर्शनशास्त्र की आवश्यकता थी, उसको लेने के लिए तैयार नहीं थे; वे धर्मवादी थे।

सरदार भगतसिंह में हम इस प्रकार के विचारों की गड़बड़ी नहीं पाते। उन्होंने असेम्बली बम केस के सम्बन्ध में बटुकेश्वर दत्त के साथ जो बयान दिया था वह एक ऐतिहासिक

वक्तव्य है। उसके पढ़ने से क्रांतिकारियों के सामाजिक तथा राजनीतिक विचार स्पष्ट हो जाते हैं। हम यह नहीं कहते कि भगतसिंह कार्ल मार्क्सवादी थे, हम यह भी नहीं कहते कि वे कार्ल मार्क्स के सबसे अच्छे व्याख्याता अथवा टीकाकार थे।

सरदार भगतसिंह के वंश में वीरता कोई नवीन वस्तु नहीं थी। उनके पितामह सरदार अर्जुनसिंह के दो पुत्र हुए। दोनों देशभक्त और त्यागी थे। उनमें से बड़े का नाम सरदार अजीतसिंह था। उन्होंने लाला लाजपतराय के सहयोग से राष्ट्रीय काम किए। उस समय पंजाब में एक ऐसा कानून बन रहा था जिससे कि किसानों को बहुत ही हानि पहुँचती। लालाजी ने इस कानून के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। सरदार अजीतसिंह ने भी उनका साथ दिया। उन्हीं दिनों बंगाल में बंग-भंग का आंदोलन चल रहा था और सारे बंगाल में ऐसी उत्तेजना फैली हुई थी कि सरकार डाँवाडोल थी। इसलिए सरकार ने अपना दमन-चक्र चलाना प्रारम्भ किया। पंजाब से लालाजी नजरबन्द करके माण्डले भेज दिए गए। किन्तु सरदार अजीतसिंह हाथ नहीं आए और वे ब्राजील जाकर बस गए। सूफी अम्बाप्रसादजी भी, जो कि एक अच्छे लेखक तथा कवि थे इसी गुट के जगमगाते हुए हीरे थे। भगतसिंह के पिता सरदार किसनसिंह भी लालाजी के सहयोगियों में से थे। वे स्वयं कई बार जेल हो आए थे और अन्त तक नवजवानों का-सा जोश रखते थे।

सरदार भगतसिंह के साहस के संबंध में बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं। सरदार भगतसिंह का परिचय भी बटुकेश्वर दत्त का परिचय दिये बिना अधूरा ही रह जाएगा, अतः यहाँ पर उनका भी कुछ परिचय दिया जाता है।

बटुकेश्वर दत्त

श्री बटुकेश्वर दत्त कानपुर के रहनेवाले थे। इनका जन्म 1908 ईस्वी में हुआ। लड़कपन से ही दत्त अच्छे खिलाड़ी थे। यह सम्भवतः सन् 1924 की बात है कि मैं कानपुर गया था। उस समय बटुकेश्वर स्कूल की किसी ऊँची कक्षा में पढ़ते थे। हम सुरेश बाबू के साथ कानपुर शहर देखने के लिए निकले थे। हम घूमते-घामते संध्या के कुछ पूर्व उस विद्यालय में गए जिसमें बटुकेश्वर पढ़ते थे। उस समय वहाँ कवायद हो रही थी। यदि मुझे ठीक स्मरण है तो उस समय बटुकेश्वर एक टुकड़ी का नेतृत्व कर रहे थे। सुरेश दादा बटुकेश्वर के विद्यालय में शिक्षक थे इसलिए उनके जाते ही लड़कों ने सामरिक ढंग से अभिवादन किया। यह बात मुझे खूब स्मरण है। इसके अतिरिक्त अन्य कई अवसरों पर मुझसे उनकी भेंट हुई। उन दिनों बटुकेश्वर केवल दल के सम्पर्क में थे, कोई सक्रिय भाग नहीं ले रहे थे। बाद में जब हम लोग गिरफ्तार हो गए तब वे लोग रंगमंच पर उतरे

और इन्होंने जो कुछ भी किया वह देश के सामने है।

जब श्री योगेशचन्द्र चटर्जी कानपुर में राय महाशय के नाम से रहते थे, उन दिनों कई नवयुवकों पर उनका प्रभाव पड़ा; बटुकेश्वर दत्त, राजकुमार सिंह के भाई विजयकुमार सिंह इन्हीं नवयुवकों में से थे और हमें यह लिखते दर्द होता है कि ये लोग अपने गुरुजनों को पीछे छोड़ आगे बढ़ गए।

सन् 1929 की 8 अप्रैल के दिन की घटना है। उस समय की केन्द्रीय असेम्बली में 'पब्लिक सेफ्टी' नामक एक बिल विचारार्थ उपस्थित था; दोनों ओर से खींचातानी हो रही थी। ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल अधिक वोटों से पास हो चुका था और सभापति पटेल विचारार्थ उपस्थित थे, 'पब्लिक सेफ्टी' बिल पर अपनी सम्मति देने जा रहे थे, सब लोगों की आँखें उन्हीं की ओर लगी हुई थीं, बड़ी उत्तेजना का समय था। ऐसे समय एकाएक असेम्बली भवन में दर्शकों की गैलरी से एक भयानक बम गिरा, जिसके गिरते ही चारों तरफ आतंक का धुआँ छा गया। जैसा कि लिखा जा चुका है, कुछ परचे भी फेंके गए, जिसमें एक फ्रेंच क्रांतिकारी का हवाला देकर यह कहा गया था, "बहरों को सुनाने के लिए धड़ाके की जरूरत है।"

भगतसिंह एवं दत्त को आजीवन कालेपानी की सजा मिली। यह मुझे स्मरण नहीं कि सजा होने के पूर्व से ही उन्होंने विशेष व्यवहार के लिए अनशन कर दिया या उसके तुरन्त बाद ही किया; किन्तु इतना मुझे अवश्य स्मरण है कि अनशन की ही अवस्था में वे दिल्ली से लाहौर ले जाए गए। उनकी अवस्था दिनोंदिन बिगड़ने लगी। पंजाब और बंगाल में उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए 30 जून को 'सिंह-दत्त' दिवस मनाया गया। देश के लोग उनके लिए उद्विग्न थे, उधर सरकार भी उन्हें अधिक-से-अधिक दिन तक जीवित रखना चाहती थी, इसलिए उन्हें बलात्पान कराया जाता था।

सन् 1929 ई. की 10 जुलाई के दिन लाहौर-षड्यंत्र का मुकद्दमा स्पेशल मजिस्ट्रेट रायसाहब श्रीकृष्ण के सामने प्रारम्भ हुआ। इसमें निम्नलिखित व्यक्ति अभियुक्त थे— भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, यतीन्द्रनाथ दास, अजयकुमार घोष, जितेन्द्रनाथ सान्याल, सुरेन्द्रनाथ पाण्डेय, कमलनाथ त्रिवेदी, शिव वर्मा, महावीर सिंह, किशोरी लाल, आज्ञाराम, प्रेमदत्त, जयदेव, सुखदेव, गयाप्रसाद, देशराज।

भगतसिंह एवं दत्त अनशन की ही अवस्था में अदालत लाए जाते थे। सरकार इनकी माँगों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दे रही थी, इसलिए सब अभियुक्तों ने मिलकर 13 जुलाई को अनशन करने की घोषणा कर दी। 14 तारीख को केवल सरदार भगतसिंह अदालत में लाए गए, बटुकेश्वर की अवस्था बहुत खराब हो रही थी। भगतसिंह ने उस दिन अदालत में कहा,"पंजाब सरकार ने मेडिकल ग्राउण्ड पर हम लोगों को विशेष प्रकार

का भोजन देना स्वीकार किया है, किन्तु हमें यह स्वीकार नहीं है। हम चाहते हैं कि राजनीतिक कैदी की हैसियत से विशेष व्यवहार मिले; हम इसी विशेष सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अपना जीवन खतरे में डाल रहे हैं।''

सरदार भगतसिंह ने इस मेडिकल ग्राउंड वाली शर्त को क्यों अस्वीकार किया था, इसे उन्होंने श्री गणेशंकर विद्यार्थी से बातचीत करते समय स्पष्ट कर दिया था। उन्होंने कहा था, ''सरदार ने काकोरी के कैदियों को भी तो हवालात में विशेष व्यवहार दिया था, क्योंकि वह चूँकि मेडिकल ग्राउंड पर दिया गया था, अतः सरकार बाध्य नहीं थी कि सजा मिलने के बाद भी वही व्यवहार जारी रहे। इसलिए हम जो विशेष व्यवहार चाहते हैं, उसे राजनीतिक कैदी होने के नाते से चाहते हैं।''

श्री दत्त की अनुपस्थिति के कारण अदालत बन्द रहने लगी। 17 तारीख को पुनः पेशी हुई। उस दिन अभियुक्तों पर कुछ नवीन सख्तियाँ की गईं, उन्हें हथकड़ियाँ डाल दी गईं तथा दो अभियुक्तों के बीच में एक पुलिस को बैठाया गया। इसके फलस्वरूप अभियुक्तों तथा एक पुलिस अफसर में कुछ गरमागरमी हो गई। इसलिए अभियुक्तों ने मामले को दूसरी अदालत में ले जाने के लिए हाईकोर्ट में दरखास्त दी। मामला फिर मुल्तवी हो गया। देश में इनके स्वास्थ्य के संबंध में चिन्ता फैल गई।

उन दिनों कुल तेरह अभियुक्त लाहौर के दोनों जेलों में अनशन कर रहे थे। बलात्पान जारी था। इनमें से कुछ व्यक्ति बलत्पान कराते समय उसका हर प्रकार से प्रतिरोध करते थे। अतः उनकी अवस्था बहुत खराब हो रही थी। 25 जुलाई को अभियुक्तों में से दो ने स्पेशल मैजिस्ट्रेट के सामने जो बयान दिया था, उसके अनुसार पता लगता है कि उन लोगों को बलात्पान कराते समय प्रत्येक के लिए सात-आठ मनुष्य नियुक्त किए जाते थे। एक आदमी सर पर बैठता है, दूसरा छाती पर, और शेष हाथ-पैर पकड़ लेते हैं। रबर की नलियाँ जोर से उनके नाक में घुसेड़ दी जाती थीं। यतीन्द्रनाथ दास के संबंध में कहते हुए इन अभियुक्तों ने कहा, ''कल जब कि दास को बलात्पान कराया जा रहा था, एक लंबी नली उनके मुंह में डाल दी गई और एक नाक में। वे बेहोश हो गये और उनकी नाड़ी डूबने लगी। डॉक्टर को उन्हें होश में लाने के लिए ब्रांडी और पिचकारी देनी पड़ी। वे अब मृत्यु-शैय्या पर पड़े हैं।'' इस बयान पर मेजर पुरी बुलाए गए, उन्होंने भी एक-दो अभियुक्तों की कही हुई बातों का समर्थन किया और कहा, ''जिस समय अनशनकारी प्रतिरोध कर रहा है उस समय बलात्पान कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।''

सार्वजनिक नेताओं की ओर से इस अनशन का अन्त करने की चेष्टा की गई, देश के चारों ओर इसके लिए आन्दोलन होने लगा, अनशनकारियों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए उनके दिवस मनाए गए। जुलाई के तीसरे हफ्ते में राजनीतिक बंदियों के

चिरंतन मित्र गणेशशंकर विद्यार्थी लाहौर गए। उन्होंने चेष्टा की कि अभियुक्त भोजन कर लें। विद्यार्थीजी ने अपने वक्तव्य में अनशनकारियों के दृढ़ निश्चय तथा उनके अत्यन्त भयानक शारीरिक दशा की ओर सार्वजनिक मत को आकर्षित करते हुए यह अपील की कि इसके विरुद्ध एक जोरदार आवाज उठाई जाए।

26 जुलाई को प्रयाग में ए.आई.सी.सी. की एक विशेष बैठक हो रही थी। उसमें यह प्रश्न उपस्थित था कि कौन्सिलों का बहिष्कार किया जाए, या नहीं। इस बैठक में अनशन का समर्थन किया गया। न केवल काँग्रेस के छोटे-मोटे नेताओं ने बल्कि उस वर्ष की काँग्रेस के सभापति पं. मोतीलाल नेहरू ने एक पत्र-प्रतिनिधि से बातें करते हुए इस अनशन की चर्चा की और सरकार को एक कड़ी चेतावनी दी। इस चेतावनी के अतिरिक्त 4 अगस्त की इलाहाबाद की सार्वजनिक सभा में उन्होंने कहा,"भगतसिंह और दत्त को जेल में अनशन करते हुए आज 52वाँ दिन है। वे और उनके साथी यह व्रत अपने लिए नहीं कर रहे है। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे प्रमाणित व्यक्ति अपनी आँखों से लाहौर-षड्यंत्र के अभियुक्तों के शरीर पर चोटों के निशान देखे हैं जो उन्हें बलात्पान कराते समय आए हैं।"

इसके बाद पं. जवाहरलाल नेहरू भी लाहौर गए, वे सब अभियुक्तों से मिले। वहाँ उन्होंने श्री यतीन्द्रनाथ दास को जिस शोचनीय दशा में देखा, उसका उल्लेख उन्होंने अपने वक्तव्य में किया था। उन्होंने समाचार पत्रों को यह बयान दिया,"इन लोगों को दिन में दो बार बलात्पान कराया जाता है। वे इसका प्रतिरोध करते हैं, जिसके फलस्वरूप उनकी अवस्था अत्यंत खराब हो गई है। किसी-किसी की अवस्था तो इतनी खराब हो गई है कि उनको बलात्पान कराना बंद करना पड़ा है। यतीन्द्रनाथ दास की अवस्था विशेष रूप से खराब हो गई है, वे बहुत ही दुर्बल हो गए हैं, करवट तक नहीं ले सकते। वे बहुत धीरे-धीरे बोलते हैं। यथार्थ में वे मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इन असाधारण वीर युवकों के कष्ट को देखकर मुझे बहुत कष्ट हुआ। मुझे इन लोगों से ज्ञात हुआ है कि वे अपने जीवन की बाजी लगाकर भी अपना व्रत समाप्त नहीं करेंगे। वे अपनी चिंता नहीं करते। वे राजनीतिक कैदियों की दुर्दशा का खूब अनुभव कर रहे हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि इन युवकों का महान् आत्म-त्याग सफल होगा।"

9 अगस्त को पंजाब सरकार की ओर से एक विज्ञप्ति निकली, किन्तु उस विज्ञप्ति में एक भी शब्द ऐसा नहीं था, जिससे कि जनमत को तनिक भी सान्त्वना मिलती। वह तो नौकरशाही का समर्थन मात्र था। जिस सिद्धान्त को सामने रखकर अनशनकारी खेल रहे थे, उस सिद्धान्त की जरा भी मर्यादा नहीं की गई थी। इस विज्ञप्ति का लोकमत या अनशनकारियों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अनशनकारियों ने तो इस विज्ञप्ति को एकदम ही ठुकरा दिया।

स्थिति बराबर बिगड़ती ही जा रही थी— बात यह थी जनमत अनशनकारियों के साथ था। अतः पंजाब के गर्वनर शिमला-शैल से उतरकर लाहौर की तपती हुई भूमि पर आए। लोगों ने समझा कि जिस प्रकार गर्वनर ऊपर से उतरकर नीचे आए, उसी प्रकार सम्भवतः सरकार भी वास्तविकता के समतल पर उतर आवे। किन्तु वहाँ तो झूठी शान का प्रश्न था, एक तरफ शान की रक्षा हो रही थी और दूसरी ओर आन की। गर्वनर आए भी और लौट भी गए। पता लगा कि वे जेल के अधिकारियों से भी मिले, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ।

दास की दशा बराबर खराब होती जा रही थी। वे प्रति-मिनट मृत्यु के और भी निकट आ रहे थे परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा पर अटल थे। वे 'कर मिट, या मर मिट' पर कटिबद्ध थे। उधर लाहौर का मुकदमा भी बराबर मुल्तवी हो रहा था।

9 अगस्त को सरकार ने पुनः एक विज्ञप्ति निकाली, किन्तु उसमें हृदय-परिवर्तन के कोई भी लक्षण नहीं थे। उसमें सरकार ने पुनः अपना ही समर्थन किया था।

भारत सरकार का भी आसन हिल गया। उसने भी एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। उस विज्ञप्ति में ये वादा किया गया कि जेल नियमों की जाँच तथा सुधार के लिए प्रत्येक प्रांत में समितियाँ नियुक्त की जायेंगी।

पंजाब सरकार ने 6 अगस्त को एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी उसमें विचाराधीन राजनीतिक कैदियों के संबंध में कुछ बातें बतलाई गई थीं। ''सारे भारत में इस संबंध में एक ही नियम है। वे अपना कपड़ा पहन सकते है, अपना खाना खा सकते हैं तथा चिट्ठियाँ लिख सकते हैं। भारत सरकार को विश्वास है कि इस वक्तव्य के बाद जनता में कोई गलतफहमी नहीं रहेगी फिर भी चूँकि जनता जेल-नियमों से असन्तुष्ट है, अतः प्रत्येक प्रांत में एक कमीशन नियुक्त किया जायेगा। भारत सरकार आशा करती है कि गैरसरकारी नेता भी इस कार्य में उसकी सहायता करेंगे।''

इस विज्ञप्ति में लाहौरवालों का नाम तक नहीं था। जान पड़ता है कि मानों जनता को कुछ गलतफहमी है, उसी को दूर करने के लिए यह विज्ञप्ति प्रकाशित की गई है मानों लाहौर-षड्यंत्र से इसका कोई संबंध न हो।

बारी-बारी से बहुत-से नेता अनशनकारियों से मिले किन्तु उसका कुछ भी परिणाम नहीं निकला। इसके साथ ही नेतागण उच्च सरकारी अफसरों से भी मिलते रहे।

संयुक्त प्रांत की सरकार ने पहले ही जेल-कमीशन बैठा दिया था। उसका लाहौर के अनशन से कोई संबंध नहीं था। जब अनशन और भी अधिक दिनों तक चला तो भारत सरकार की विज्ञप्ति के अनुसार पंजाब-सरकार ने इंसपेक्टर-जनरल लेफ्टीनेंट कर्नल बार्कर की अध्यक्षता में पंजाब-जेल-कमेटी बना दी। यह बात अगस्त के दूसरे सप्ताह में हुई। इस

अनशन की सहानुभूति में बहुतों ने अनशन किया। इनके अतिरिक्त इधर-उधर और भी इक्के-दुक्के अनशन हो रहे थे।

अगस्त के तीसरे सप्ताह तक, जिस समय की बात हम यहाँ लिख रहे हैं, लाहौर-षड्यंत्र का मुकद्दमा न मालूम कितनी बार मुल्तवी हो चुका था। इसका कारण यह था कि कुछ अभियुक्तों की दशा बहुत ही खराब हो गई थी। अब भी अनशनकारियों के माँग की कोई सुनवाई नहीं हो रही थी। जेल-जाँच-कमेटी के एक सदस्य तथा अन्य नेताओं ने अभियुक्तों से भेंट की। 21 अगस्त को इंस्पेक्टर-जनरल स्वयं अभियुक्तों से मिले और कहा,"मैं जेल-जाँच-कमेटी का प्रधान हूँ, तुम्हारी शिकायतों को दूर करूँगा, तुम अनशन त्याग दो।" किन्तु उन्होंने कहा,"जब तक हमारी माँग के संबंध में कोई समझौता न होगा तब तक हम कभी अनशन नहीं तोड़ेंगे।"

अनशन बंद कराने के लिए सभी प्रकार के उपाय काम में लाए जा रहे थे। अगली काँग्रेस लाहौर में होने जा रही थी। स्वागत कारिणी-समिति ने सरकार से काँग्रेस के लिए मिण्टो पार्क माँगा, किन्तु सरकार ने इस संबंध में कहा,"यदि वे अनशन को तुड़वाने में समर्थ हों तभी यह भूमि उनको दी जाएगी।" इस प्रकार अनशनकारियों पर अनेक प्रकार से दबाव डाला जा रहा था। इसके साथ ही जनता की आँखों में अनशन को गिराने के उद्देश्य से कौंसिल के एक सदस्य ने इस अर्थ की एक विज्ञप्ति निकलवाई— "भगतसिंह तथा बटुकेश्वर ने साधारण अपराधियों की भाँति हत्या का प्रयत्न किया था, अतः उनके साथ किस सिद्धान्त के अनुसार विशेष व्यवहार किया जा सकता है?" इसके साथ ही यह भी कहा गया था कि यदि कोई मनुष्य किसी के दरवाजे पर यह कहकर धरना दे कि मैं तो तेरी लड़की से शादी करूँगा तो क्या उसको लड़की ब्याह देनी चाहिए।

इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण बातें बहुत-सी हुईं।

पंजाब जेल-जाँचकमेटी ने विशेषकर इस अनशन को सुलझाने के निमित्त अपने सदस्यों में से लाला दुनीचन्द आदि कई व्यक्तियों की एक उपसमिति बना दी। इस उपसमिति ने अपने अध्यक्ष श्री कर्नल बार्कर की अधीनता में बार-बार अभियुक्तों से मुलाकात की, और इस बात की चेष्टा करते रहे कि अनशन समाप्त हो जाए। वे सफल हुए। दो सितम्बर को संध्या समय श्री यतीन्द्रनाथ दास के अतिरिक्त लाहौर-षड्यंत्र के सभी कैदियों ने अनशन तोड़ दिया। इस उपसमिति ने दास को अनशन ने तोड़ते देखकर सरकार से यह सिफारिश की कि दास छोड़ दिये जाएँ। समिति ने जिन बातों के लिए लाहौर-षड्यंत्रकारियों को आश्वासन दिया, वे ये थीं— भविष्य में गोरे और हिन्दुस्तानी कैदियों में कोई भेद नहीं किया जाएगा तथा कैदी तीन वर्गों में विभक्त किए जाएँगे।

यतीन्द्रनाथ दास के बारे में सितम्बर के प्रारम्भ से ही डॉक्टर लोग कह रहे थे कि

उनके जीने की कोई आशा नहीं है। उनके रक्त का दौरा केवल ह्रदय के ही आस-पास होता था, सब अंग करीब-करीब निर्जीव हो गए थे। दृष्टि-शक्ति क्षीण हो चुकी थी। उनके छोटे भाई को जेल में उनकी परिचर्या करने की आज्ञा दे दी गई थी। अब यह बिल्कुल निश्चित-सा हो गया था कि यदि सरकार न झुकी तो मृत्यु अवश्य होगी। लाहौर शहर में तो कई बार ऐसी अफवाह भी उड़ चुकी थी कि यतीन्द्रनाथ दास शहीद हो गए। सरकार को इस बात से बड़ा अंदेशा था इसलिए बाहर से पुलिस मँगाकर शहर में यत्र-तत्र नाकेबंदी कर दी गई थी।

यतीन्द्रनाथ दास कोई धोखे से शहीद हो गए, यह बात नहीं है। उन्हें भली भाँति पता था कि वे प्रतिक्षण मृत्यु के मुख में अग्रसर हो रहे हैं। तद्नुसार उन्होंने अपनी इच्छा यह प्रगट की कि उनका दाह-संस्कार कलकत्ता के उसी स्थान पर हो, जहाँ पर उनकी माता तथा बहिन के दाह-संस्कार हुए थे। उन्होंने और भी बहुत-सी इच्छाएँ प्रगट कीं जिनसे यही प्रगट हो रहा था कि वे अन्त तक सार्वजनिक हित का ही विचार करते रहे।

उनके भाई उनके शव को कलकत्ता ले जाने के लिए रेलवे कम्पनी से लिखा-पढ़ी करने लगे। जब सरकार ने यह बात देखी की यतीन्द्रनाथ दास मरने पर तुल हुए हैं, तो उसने लाहौर केस के मजिस्ट्रेट को यह हिदायत दी कि यदि अभियुक्तों के वकीलों की ओर से यतीन्द्रनाथ दास को जमानत दी जाए तो सरकार की ओर से उसका कोई विरोध न किया जाए; केवल यही नहीं, श्रीयुत दास को भी इस बात का पता दे दिया गया कि आप जमानत पर छूट सकते हैं, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार की शर्त की रिहाई को ठुकरा दिया। उनके पिता ने भी अपने पुत्र को यही परामर्श दिया कि वह जमानत की रिहाई को अस्वीकार कर दे।

जब इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी तो लाहौर-षड्यंत्र के कुछ अभियुक्त अर्थात् सर्वश्री भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त, अजयकुमार घोष, विजयकुमार सिंह, जितेन्द्रनाथ सान्याल, किशोरलाल तथा शिव वर्मा ने 6 दिसम्बर को दुबारा अनशन प्रारम्भ कर दिया। अनशन करते हुए उन्होंने जेलकमेटी को पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी पुरानी माँगों के साथ श्री दास की तुरंत रिहाई की माँग भी की थी। इसके साथ उन्होंने सरकार पर प्रतिज्ञा-भंग का दोष भी लगाया।

जब सरकार ने देखा कि दास के संबंधी लोग उनकी जमानत नहीं देंगे, तब रहस्यपूर्ण ढंग से दो व्यक्तियों ने अदालत में उपस्थित होकर उनके लिए मुचलका दाखिल कर दिया। ये दोनों व्यक्ति कौन थे, इसका पता आज तक नहीं लगा। किन्तु दास ने इस प्रकार की रिहाई एकदम अस्वीकार कर दी। इधर समाचार पत्रों में भी दास के अनशन को गलत तरीके से रखने की चेष्टा की जा रही थी। यह कहा जा रहा था कि दास तो बिना शर्त

रिहाई पाने के लिए अनशन कर रहे हैं।

अन्य अनशनकारियों के सम्बन्ध में भी खतरनाक खबरें प्रकाशित हो रही थीं। शिव वर्मा को बलात्पान कराते समय उनकी नाड़ी एकदम गिरने लगी और कहा जाता है कि उन्हें रक्त का वमन हुआ। सर्वश्री विजयकुमार सिंह, अजय घोष तथा किशोरीलाल को भी ऐसा हुआ।

इस समय दास बिल्कुल मृत्युशैया पर थे। श्री सुभाषचन्द्र बोस ने उनकी लाश को कलकत्ता ले जाने के लिए 600 रुपये भेज दिए थे। इधर बम्बईवालों ने कहा, 'यह खर्च हम देंगे।' किन्तु पंजाबवालों ने इसे अपना अपमान समझा और कहा, 'यह खर्च हम ही देंगे।'

इधर तो अर्थी ले जाने की तैयारियाँ हो रही थीं, उधर सरकार यह प्रयत्न कर रही थी कि यतीन्द्रदास की मृत्यु पर किसी प्रकार का जुलूस या समारोह न होने पावे। फिर भी वह उन्हें छोड़ नहीं रही थी।

दास के बचने की कोई सम्भावना नहीं थी। अनशनकारियों की माँग पर विचार करना तो दूर रहा, सरकार ने इसका प्रयत्न किया कि मुकद्दमा किसी-न-किसी प्रकार चलता रहे। किन्तु इसके लिए साधारण कानून बाधक सिद्ध हो रहा था। अतः सर जेम्स क्रेरार ने हंगर स्ट्राइक बिल नाम से एक बिल पेश किया। इसमें 1898 की जाब्ता फौजदारी की दफा 540 A में इतना सुधार किया गया था कि मुकद्दमा चलते समय यदि कोई अभियुक्त इच्छापूर्वक कोई ऐसा कार्य करे जिससे कि वह अदालत जाने में असमर्थ हो जाए, तो भी उसका मुकद्दमा उसकी अनुपस्थिति में चल सकेगा। 12 दिसम्बर, 1929 को असेम्बली में यह बिल पेश हुआ। मि. जिन्ना तक ने इस बिल का विरोध किया, असेम्बली-भवन दर्शकों से खचाखच भरा हुआ था।

इस बिल पर बहस होती रही, उधर 13 दिसम्बर को ही प्रातःकाल 8 बजे लोग जेल के बाहर यतीन्द्रनाथ दास के भाई की प्रतीक्षा कर रहे थे। बात यह थी कि उसी दिन श्री यतीन्द्रनाथ दास अपने जीवन की अंतिम आहुति देकर शहीद हो गए।

यतीन्द्रनाथ दास का शव लाहौर से कलकत्ता ले जाया गया, और उसका जो स्वागत हुआ वह भारत के राजनीतिक इतिहास में एक बहुत ही अद्भुत वस्तु है। अन्त में अनशन-विरोधी बिल भी वापस ले लिया गया, किन्तु गर्वनर जनरल ने लाहौर-षड्यंत्र केस के संबंध में एक आर्डिनेंस निकाल ही दिया।

इसके बाद भी यतीन्द्रनाथ दास ने जिन माँगों के लिए अनशन किया था वे पूरी नहीं की गईं। तब सरदार भगतसिंह आदि ने पुनः अनशन कर दिया। उनके साथ मेरे मित्र सर्वश्री राजकुमार सिंह, शचीन्द्र बख्शी तथा मैंने भी अनशन किए। उसका विवरण 'मेरे अनशन

के अनुभव' नामक अध्याय में आएगा।

सरदार भगतसिंह को लाहौर-षड्यंत्र वाले केस में फाँसी की सजा हुई। उनके साथ उनके साथी सर्वश्री राजगुरु और सुखदेव को भी मि. सैण्डर्स की हत्या के संबंध में फाँसी हुई थी जो 17 सितम्बर, 1928 को 4 बजे शाम को हुई थी।

जिस समय भगतसिंह तथा उनके साथी फाँसीघर में बन्द थे उस समय उनकी सजा के संबंध में गाँधीजी और वाइसराय के बीच औपचारिक बातें हुई, क्योंकि उन्हें जो फाँसी दी जानेवाली थी उससे देश में बड़ी हलचल मच रही थी। स्वयं काँग्रेसवाले भी इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि इस समय जो सद्भाव चारों ओर दिखाई पड़ रहा है, उसका लाभ उठाकर उनकी फाँसी की सजा बदलवा दी जाए। किन्तु वायसराय ने इस संबंध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा। हमेशा एक मर्यादा रखकर उन्होंने इस संबंध में बातें कीं। उन्होंने गाँधीजी से केवल यही कहा कि मै पंजाब सरकार को इस संबंध में लिखूँगा। इसके अतिरिक्त और कोई वादा उन्होंने नहीं किया। यह ठीक है कि स्वयं उन्हीं को सजा रद्द करने का अधिकार था किन्तु यह अधिकार राजनीतिक कारणों के लिए उपयोग में लाने योग्य नहीं था। दूसरी ओर राजनीतिक कारण ही पंजाब सरकार को इस बात के मानने में बाधक हो रहे थे।

शचीन्द्रनाथ सान्याल

शचीन्द्रनाथ सान्याल उत्तर भारत के क्रांतिकारियों में प्रमुखतम व्यक्तियों में से हैं। भारतवर्ष के क्रांतिकारी इतिहास में संभवतः वे ही एक ऐसे मनुष्य हैं जिन्हें दो बार आजीवन कालेपानी की सजा हो चुकी है। उनका जन्म सन् 1893 की 5 जून को हुआ था। वे रासबिहारी दल के एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे रासबिहारी के साथ बराबर पत्र व्यवहार रखते रहे। रासबिहारी के दलवालों में कदाचित् वे ही एक ऐसे व्यक्ति थे जो सक्रिय राजनीति में अब भी भाग लेते चले आ रहे हैं। उन्होंने 'बंदी-जीवन' नामक एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में उनके समय के सब कार्यों का विवरण आ गया है।

वे 26 जून सन्, 1915 को पहले-पहल गिरफ्तार हुए। पहले तो उन पर लाहौर-षड्यंत्र का मुकद्दमा चलाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु वह सफल नहीं रहा। तब वे दिल्ली लाए गए। वहाँ भी कुछ चल नहीं सका। अंत में बनारस में उन पर मुकद्दमा चला। वे बनारस-षड्यंत्र के नेता माने गए। इस मुकद्दमें में बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करना तथा सेना को भड़काना—ये ही दो जुर्म प्रमुख थे। स्पेशल ट्रिब्यूनल से उन्हें आजीवन कालेपानी की सजा मिली। इसके बाद वे अंडमान भेज दिए गए। वहाँ उन्हें लगभग चार वर्ष रहना पड़ा। 20 फरवरी, सन् 1920 को वे आम मुआफी में छोड़ दिए गए।

शचीन्द्र लड़कपन से ही अध्ययन के प्रेमी थे। यों तो सभी क्रांतिकारी पहले ईश्वरवादी थे और बाद में बदलकर अनीश्वरवादी हो गए, परन्तु शचीन्द्र बाबू ज्यों-के-त्यों ईश्वरवादी बने रहे। उन्होंने इसी विषय को दृष्टि में रखकर सारा अध्ययन किया है। दुनिया की आधुनिकतम विचारधारा से वे भली भाँति परिचित थे, और वे समझते थे कि विज्ञान की उत्तरोत्तर उन्नति से अध्यात्मवाद का ही समर्थन हो रहा है। इस विषय को वे बड़े मनोरंजक ढंग से प्रतिपादन करने की इच्छा रखते थे। जिस समय वे बरेली सेंट्रल जेल में थे उस समय श्रीयुत मानवेन्द्रनाथ राय भी वहीं थे। वे यद्यपि अलग-अलग रखे जाते थे किन्तु गैरकानूनी ढंग से परस्पर पत्र-व्यवहार करते थे और उसमें दर्शनशास्त्र पर वाद-विवाद करते थे। दुख है कि इस वाद-विवाद का कोई रिकॉर्ड मौजूद नहीं है। मानवेन्द्रनाथ राय भी उनका लोहा मानने के लिए विवश हुए और कहा जाता है कि उस समय से वे अध्यात्मवाद का गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन करने लगे। एक कृतविद्य साथी का कथन है कि शचीन्द्र बाबू धर्म और अध्यात्मवाद को जिस प्रकार स्थापित कर रहे थे और करना चाहते थे, वह पद्धति रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद तथा अरविन्द से श्रेष्ठतर थे। वे समय मिलते ही समाजशास्त्र पर एक प्रकांड ग्रन्थ लिखकर जनता के सम्मुख अपने विचार रखना चाहते थे।

शचीन्द्र बाबू का सारा परिवार राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में कष्ट उठा चुका है। उनके भाई जितेन्द्रनाथ सान्याल को बनारस-षड्यंत्र के संबंध में दो वर्ष की सजा हुई थी, पुनः सरदार भगतसिंह वाले लाहौर-षड्यंत्र में वे पकड़े गए थे, किन्तु अंत में वे छोड़ दिए गए। इसके बाद भगतसिंह पर एक पुस्तक लिखने के कारण उन्हें दो वर्ष की कड़ी सजा हुई थी। शचीन्द्र बाबू के भाई अध्यापक श्री रवीन्द्रनाथ सान्याल को बनारस-षड्यंत्र के संबंध में कई वर्ष नजरबंद रहना पड़ा। उनके सबसे छोटे भाई श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल को काकोरी-षड्यंत्र में पाँच वर्ष की सजा हुई। इसे काटने के बाद उन्हें फिर 124-ए के तहत एक वर्ष की सजा हुई थी।

काकोरी के क्रांतिकारियों में शचीन्द्र बाबू, गोविंदचरण कर, मुकुन्दीलाल ही ऐसे हैं, जो अनीश्वरवादी नहीं हुए। शचीन्द्र बाबू विवाहित थे, उनका एक लड़का भी है। इसके अतिरिक्त उनके संबंध की बातें पहले यत्र-तत्र आती गई हैं। 1943 में उनकी मृत्यु हुई।

यतीन्द्रनाथ दास

जिस समय काकोरी-षड्यंत्र केस चल रहा था, बल्कि जिस समय उसका मुकद्दमा अच्छी तरह चल भी नहीं पाया था, उसी समय 5 नवम्बर, सन् 1925 को यतीन्द्रनाथ दास गिरफ्तार कर लिए गए। कलकत्ता जेल में उनकी शिनाख्त के लिए काकोरी मुकद्दमे के मुखबिर लोग गए, ओर उन्होंने उनकी शिनाख्त करने की चेष्टा की, किन्तु वे उन्हें नहीं जानते थे, इसलिए वे उनकी शिनाख्त नहीं कर पाए। काकोरी-षड्यंत्र में जिस मेरठ की मीटिंग का उल्लेख बार-बार आया है, उसमें यतीन्द्रनाथ दास तथा सरदार भगतसिंह शामिल होनेवाले थे। पं. रामप्रसाद तथा अन्य लोगों की चिट्ठियों में लाहौर तथा कलकत्ता के जिन उपदेशों का उल्लेख है, वह इन्हीं दोनों महानुभावों के संबंध में है। अवश्य ही उस युग में इन्होंने एक संगठन के अतिरिक्त और किसी काम में प्रमुख या सक्रिय भाग नहीं लिया था।

मुझे स्मरण है कि यतीन्दनाथ दास कई बार बनारस आए थे, मैंने उन्हें राजेन्द बाबू राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी के घर पर देखा था। एक बार वे हमारे साथ एक सामरिक काम में भी गए थे, किन्तु किसी दुर्घटना वश वह काम नहीं किया जा सका। मैंने इस बात का विशेषकर उल्लेख इसलिए किया कि जब यतीन्दनाथ दास दीर्घ अनशन के बाद शहीद हुए तब महात्मा गाँधी ने यह कहा था कि यतीन्दनाथ दास अहिंसावादी है, इसलिए उनमें यह शक्ति आई है कि वे अनशन द्वारा सबसे उच्च त्याग करने में सफल हुए। अब यह

बात सर्वजनिक रूप से कहने का समय आ गया है कि यह धारणा बिलकुल झूठी है और यतीन्द्रनाथ दास उसी प्रकार तथा उसी अर्थ में क्रांतिकारी थे,जिस अर्थ में कि भगतसिंह तथा चन्द्रशेखर आज़ाद थे।

जबकि यतीन्द्रनाथ दास पर काकोरी का मुकद्दमा नहीं चल सका, तब वे बंगाल आर्डिनेंस के शिकार हो गए। वे बंगाल की कई जेलों में रक्खे गए तथा उन्हें अनेक प्रकार से निर्यातन भी किया गया। सुना जाता है कि ढाका जेल में इनसे और वहाँ के उच्चतम अधिकारी से हाथापाई हो गई थी, जिसके फलस्वरूप यतीन्द्रनाथ दास बुरी तरह पीटे गए। यतीन्द्रनाथ दास भला ऐसी बात कब सहन कर सकते थे, इसलिए उन्होंने अनशन किया। यह अनशन जब 23 दिन तक चलता रहा, तब सरकार झुकी और उस उच्च अधिकारी को इनसे क्षमा-याचना करनी पड़ी । अंत में 27 सितम्बर, सन् 1926 को वे छोड़ दिए गए।

वे लाहौर-षड्यंत्र के संबंध में 14 जून को गिरफ्तार हुए। यतीन्द्रनाथ दास के लिए यह गिरफ्तारी कोई नई बात नहीं थी। जिस समय यह बहुत कम उम्र के थे, उसी समय वे असहयोग आंदोलन में गिरफ्तार किये गए थे। 4 दिन जेल में रहने के बाद इन्हें छोड़ दिया गया था। 1921 के असहयोग में ये पुनः गिरफ्तार हुए और 1 मास की सजा हुई। फिर उन्हें 1922 में 3 मास का कठिन कारागार का दंड मिला। जेल में इनके साथ बुरा व्यवहार हुआ, जिसके परिणामस्वरूप इनका स्वास्थ्य बिल्कुल गिर गया। दक्षिण कलकत्ता काँग्रेस कमेटी में ये प्रमुख रूप से भाग लेते रहे।

श्री यतीन्द्रनाथ दास का सबसे बड़ा महत्त्व इसी में है कि उन्होंने देश के राजनीतिक कैदियों की अवस्था सुधारने के लिए अनशन में घुल-घुलकर अपने प्राण दे दिये। मुझको स्वयं अनशन का यथेष्ट अनुभव है और मैं इस नाते यतीन्द्रनाथ दास के प्रति यह श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिए बाध्य हूँ कि उन्होंने जो त्याग किया वह फाँसी तथा कालेपानी से कहीं बढ़कर है। यदि वे अनशन न करते तो राजनीतिक कैदियों की अवस्था अब जो कुछ भी सुधरी है, वह न सुधरती। यतीन्द्रनाथ दास की जीवनी का उल्लेख करते हुए हमें अंडमान के उन वीरों को भी नहीं भूलना चाहिए जिन्होंने कि सन् 1916 से 20 तक के युग में जेल में सुधार कराने के लिए प्राण दे दिये थे। बहुत-से लोगों का यह विश्वास है कि यतीन्द्रनाथ दास ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस संबंध में प्राणों को अर्पण कर दिया, किन्तु यह बात भूल है। यतीन्द्रनाथ दास के पहले तीन और राजनैतिक कैदियों ने अंडमान की अँधेरी कोठरियों में अनशन कर जेल की दीवारों के विरुद्ध लड़ते-लड़ते प्राण दे दिये थे।

यतीन्द्रनाथ दास 13 सितम्बर सन्, 1929 को 2 बजकर 5 मिनट पर बोरस्टल जेल में शहीद हो गए। छः दिन से यह आशंका की जाती थी कि वे अब कुछ ही घंटों के अतिथि हैं। सारा देश उनके जीवन की भिक्षा माँग रहा था। किन्तु जेल के अधिकारियों के हृदय में कुछ और ही बात थी और उन्हें शहीद हो जाना पड़ा। वे 63 वें दिन शहीद

हुए।

यतीन्द्रनाथ दास जो बात चाहते थे, आज भी वह पूरी नहीं हुई है। वे तो चाहते थे कि राजनीतिक कैदियों की एक पृथक् श्रेणी हो जाए, किन्तु इस नए वर्गीकरण से वह नहीं हुआ है।

इस नये वर्गीकरण से जिन श्रेणियों का उद्भव हुआ है, उनसे राजनीतिक कैदियों की समस्या केवल आंशिक रूप से हल हुई है। यतीन्दनाथ दास की लड़ाई आगे भी जारी रही । हम उस शुभ दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब कि कोई सौभाग्यवान व्यक्ति इस बात को पूरा कर दिखलावेगा।

यतीन्दनाथ दास के संबंध में लिखते हुए हम एक बात विशेष रूप से उल्लेख करना चाहते हैं, वह बात यह है कि बहुधा यह कहा जाता है कि क्रांतिकारियों ने भारतवर्ष में कोई बात सिद्ध कर नहीं दिखलाई। राजनीति में उन्होंने कोई कार्य सिद्ध किया या नहीं–इसको हम बाद के इतिहासविदों पर छोड़ देते हैं, किन्तु यहाँ पर इतना कहे बिना नहीं रह सकते कि जेल में जो कुछ भी वर्गीकरण की सृष्टि हुई है, वह चाहे कितनी ही त्रुटिपूर्ण क्यों न हो किन्तु उस पौधे को जेल के क्रांतिकारियों ने ही अपने खून से सींच-सींचकर उगाया है। इसी वर्गीकरण की बदौलत काँग्रेस के बड़े-बड़े नेता जेल-जीवन के बड़े-बड़े दुखों से बच गए। क्या यह बात सत्य नही है? क्या यह कोई सिद्धि नहीं है?

कुछ और क्रांतिकारी

(संक्षिप्त परिचय)

रोशन सिंह

ठा. रोशन सिंह को असहयोग आंदोलन में दो वर्ष की कड़ी कैद की सजा हुई थी। वे शाहजहाँपुर के नवादा ग्राम के रहनेवाले थे। हिन्दी और उर्दू जानते थे। जेल में बंगला सीखी थी। यह हमारे सामरिक विभाग में एक प्रमुख व्यक्ति थे। किसी को भी आशा न थी कि इन्हें फाँसी होगी; न वह स्वयं ही सोचते थे कि उन्हें कोई कड़ी सजा होगी, किन्तु जब उन्हें फाँसी की सजा दी गई तो उन्होंने बड़े साहस तथा धैर्य से उसे ग्रहण किया। वे सजा पढ़ने के दिन मेरे साथ एक ही गाड़ी में लखनऊ से इलाहाबाद आए। मै नैनी चला गया, वे डिस्ट्रिक्ट जेल गए। इसलिए उनको फाँसी की सजा सुनाने के बाद मुझे उनका अध्ययन करने का विशेष सुअवसर मिला। मैने उन्हें बड़ा ही धैर्यवान् तथा साहसी पाया। फाँसीघर में भी वे अन्तिम दिन तक व्यायाम करते और गीता पढ़ते रहे। वे केवल स्वयं ही धैर्य धारण नहीं किए हुए थे, बल्कि उनकी अगल-बगल की कोठरियों मे जो फाँसीवाले थे, उनको भी धैर्य बंधाते थे। यह बात स्वयं उन फाँसीवालों में से दो-एक ने मुझसे कही है जिनकी सजा अपील में फाँसी से घटकर आजीवन कालेपानी की रह गई थी।

शहीद राजगुरु

राजगुरु आजाद के अत्यन्त विश्वासपात्र थे। इसका प्रमाण इसी घटना से होता है कि जब भगत सिंह के नेतृत्व में स्काट की हत्या करने वाली बात तय हुई और वे चलने लगे थे तो उन्हें विशेष रूप से हिदायत दे दे थी कि जिसकी हत्या करने वे जा रहे है उसे देखते ही वे स्वंय गोली दागते रहें चाहे और कोई दागे या न दागे। उन्होंने वैसा ही किया था। राजगुरु ने गलती से सान्डर्स को स्काट समझकर गोली चला दी थी।

परिणामतः राजगुरु को फाँसी की सजा मिली थी। राजगुरु का जन्म काशी में उस जमाने में हुआ था जिस जमाने में काशी क्रान्तिकारियों का अड्डा बन चुका था। 17 दिसम्बर 1928 को लाहौर में सान्डर्स की हत्या करके, यानि लाला लाजपत राय की हत्या का बदला लेकर वे पूना चले गए थे। प्रायः नौ महीने बाद, यानी 30

सितम्बर 1929 में पुलिस ने उन्हें पूना से पकड़ा था।

लाहौर षडयंत्र में भगत सिंह के साथ उन्हें भी फाँसी हुई थी। आजाद के साथ उनका परिचय बनारस में हुआ था। चूँकि वे महाराष्ट्र (पूना) के थे इस कारण लोग उनका पूरा नाम न लेकर उन्हें प्रायः 'एम' (M) प्रयोग करते थे। जिस बात का उल्लेख पुलिस वालों ने उनके मुकदमे में किया था।

अशफाकुल्ला

ये शाहजहाँपुर के रहनेवाले पठान थे। ये जिस समय पकड़े गए उस समय छात्र थे। सामरिक कार्यों में पं. रामप्रसाद के बाद ही इनका नम्बर था। मुसलमान होने पर भी हम कभी इनके साथ रहकर यह अनुभव नहीं करते थे कि हम किसी गैर से बातें कर रहे हैं। नवजवानी का उत्साह इनके रग-रग में भरा हुआ था। खेल-कूद में ये शायद अपने स्कूल में सबसे अच्छे थे। ये बहुत मोटे-ताजे और हट्टे-कट्टे थे, बहुत कम पुरुष ऐसे सुंदर होते हैं। पं. रामप्रसाद से इनकी बहुत पुरानी मित्रता थी। दोनों शिकार आदि एक साथ खेलने जाया करते थे। ये बहुत दिनों तक फरार रहे। जब ये पासपोर्ट लेकर हिन्दुस्तान से अफगानिस्तान जाने का प्रयत्न कर रहे थे, तब दिल्ली में एक व्यक्ति के विश्वासघात के कारण गिरफ्तार हो गए। शचींद्रनाथ बख्शी के साथ इनका मुकद्दमा चला और इन्हें फाँसी की सजा हुई।

अशफाकुल्ला को बरगलाने के लिए सरकार ने कई मुसलमान पुलिस-अफसरों को इनके पास भेजा। उन लोगों ने इनके पास जाकर कहा—"तुम मुसलमान हो, तुम्हें इन हिन्दुओं के आन्दोलनों से क्या मतलब? ये लोग हिन्दू-राज्य चाहते हैं, इत्यादि।" इस पर अशफाक ने जो उत्तर दिया वह स्मरणीय है। उसने कहा "अव्वल तो ये बातें बिल्कुल झूठी हैं, लेकिन अगर यह बात सत्य भी हो तो हम हिन्दू-राज्य को अंग्रेज-राज्य से ज्यादा पसन्द करेंगे क्योंकि वे हमारे ही साथी और भाई हैं।"

मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्होंने निम्नलिखित शेर लिखे थे—

फना है सबके लिए हम पै कुछ नहीं मौकूफ।
वफ़ा है एक फ़कत जाति किब्रिया के लिए।।

फाँसी के कुछ घंटे पूर्व ये पंक्तियाँ लिखी थी—

कुछ आरज़ू नहीं है, आरज़ू तो यह है।
रख दे कोई ज़रा-सी ख़ाके वतन कफ़न में।।
ऐ पुख़ाकार-उल्फ़त हुशियार डिग न जाना।
मेराज़ आशकां है इस दार और रसन में।।

अशफाकुल्ला को फैजाबाद में फाँसी हुई थी।

विष्णुशरण दुबलिस

ये मेरठ जिले के निवासी थे। 1921 में सत्याग्रह आन्दोलन होने पर ये बी.ए. करने के बाद से पढ़ना छोड़कर स्वतंत्रता के युद्ध में जुट गए। इसी वर्ष ये गिरफ्तार कर लिए गए और असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण एक वर्ष का कारावास का दण्ड मिला। जेल में इनके साथ 'विशेष व्यवहार' किया गया, किन्तु इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया और अन्य साधारण राजनीतिक कैदियों की भाँति ही रहते रहे। जेल से लौटने पर ये पुनः स्वतंत्रता संग्राम में जुट गए। असहयोग आंदोलन समाप्त होने पर ये मेरठ के वैश्य अनाथालय के मैनेजर नियुक्त हो गए। इन्होंने बड़ी योग्यतापूर्वक इसका संचालन किया। 26 सितम्बर को ये काकोरी-षड्यंत्र के संबंध में यहाँ से गिरफ्तार किये गए। पुलिस ने बहुत डरते-डरते इन्हें गिरफ्तार किया था। उसका विचार था कि अनाथालय में बमों का भारी स्टॉक है। कुओं तक में बाँस डालकर तलाशी ली गई थी। आरोपी पक्ष की ओर से मुकद्दमे में बताया गया था कि क्रांतिकारियों की गुप्त समिति की बैठक अनाथालय में ही हुआ करती थी। इन्हें दस वर्ष का कारावास का दण्ड मिला और नैनी जेल में रखे गए। नैनी जेल में एक दंगा हो गया था, जिसमें सम्मिलित समझकर इन्हें पहले कालेपानी की सजा हुई जो कि अपील में घटकर 5 साल रह गई।

दुबलिसजी बहुत ही हँसमुख तथा विनोदप्रिय व्यक्ति थे। अंडमान से इन्होंने मुझे जो पत्र लिखे थे उनसे पता चलता है कि वे जेल में कुछ साहित्य-चर्चा भी कर रहे थे।

वे अंडमान में जेल के अन्दर नहीं रखे गए किन्तु सुनते हैं, बाद को उनकी सब रियायतें छीन ली गई थीं और उनका निशान जब्त कर लिया गया था। जिस समय दुबलिसजी अंडमान में गए, उसके थोड़े ही दिन बाद उनके घर की दुकान में आग लग गई जिससे 37 हजार रुपए की हानि हुई। वे सम्मान तथा वीरता के पुतले थे।

मुकुन्दीलाल गुप्त

आपका जन्म इटावा जिले के औरैय्या नामक गाँव में हुआ था। आपकी शिक्षा इसी ग्राम में हुई। बड़े होकर आप आर्य समाज के सम्पर्क में आए। मैनपुरी के नेता गेंदालाल दीक्षित

का आप पर बड़ा प्रभाव पड़ा। आप श्री दीक्षितजी के शिष्य थे। आपको देश-सेवा की इतनी लगन थी कि आप घर पर रहते हुए भी घर के कामों से दूर रहते थे। 1918 में मैनपुरी षड्यंत्र चला और आप भी उसके संबंध में गिरफ्तार कर लिए गए। इसमें आपको 6 वर्ष का सश्रम कारावास का दंड मिला। मैनपुरी केस के समस्त बंदी सजा होने के पाँच मास बाद ही शाही घोषणा में छोड़ दिए गए, परन्तु आपको नहीं छोड़ा गया। आप नैनी जेल से पूरी सजा काटकर छूटे। जिस समय आप जेल से छूटकर आए उस समय आपका घर बरबाद हो चुका था। कुछ ही समय बाद आप काकोरी-षड्यंत्र में बनारस में गिरफ्तार किए गए। वारंट होने पर भी कुछ दिनों तक आप फरार रहे। आप इसी अवस्था में कानपुर कांग्रेस में शामिल हुए।

काकोरी-षड्यंत्र में सरकार की ओर से कहा गया था कि आप ट्रेन-डकैती में शामिल थे, यह बात सच थी। इसमें आपको दस साल की सजा हुई, किन्तु अपील में बढ़कर वह 25 साल हो गई। जेल में दो-एक बार आपने अनशन भी किया। 1972 में मर गए। यद्यपि आपका जन्म धनवान परिवार में हुआ था, पर आप फकीर रहे। आप धर्म मानते थे, किन्तु गोविन्द बाबू की तरह कट्टर नहीं थे।

शचीन्द्रनाथ बख्शी

आपका जन्म 1904 मे बनारस में हुआ था। 1921 में आपने मैट्रिक परीक्षा पास की और फिर कॉलेज में पढ़ने लगे। कुछ विशेष कारणों से आपने कॉलेज छोड़ दिया और सार्वजनिक कामों में जुट गए। बनारस में व्यायामशालाएँ स्थापित करने में आपका हाथ रहा। दिल्ली कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के पहले ही आप क्रांतिकारी प्रभाव में आ चुके थे। काकोरी केस में वारंट होने पर आप फरार रहे, किन्तु एक वर्ष बाद भागलपुर में गिरफ्तार कर लिए गए। काकोरी षड्यंत्र में आपको आजीवन कालेपानी की सजा हुई थी। आपने कई बार अनशन किया,

रामकृष्ण खत्री

इनका नाम पहले स्वामी गोविंदप्रकाश था तथा ये उदासी ब्रह्मचारी थे। काकोरी केस में इन्हें दस वर्ष की सजा हुई। ये चाँदा (मध्य प्रान्त) के रहने वाले थे। काकोरी-षड्यंत्र में

एक डकैती में इन्हें सजा मिली। इन्हें अपनी सजा पूरी काटनी पड़ी। इन्हें चन्द्रशेखर आजाद ने अपने दल में भरती किया था, तब से ये बराबर सक्रिय क्रांतिकारी आन्दोलन में भाग लेते रहे। ये शरीर से बहुत दुर्बल थे। छूटने के बाद से यह जेलस्थ भाइयों को छुड़ाने के प्रयत्न में लगे हुए थे। उन्होंने आत्मकथा लिखी है।

भूपेन्द्रनाथ सान्याल

आपको काकोरी षड्यंत्र में पाँच वर्ष की सजा हुई थी। इस सजा को काटकर ज्यों ही आप छूटे त्यों ही युवक आन्दोलन में सम्मिलित हो गए और मथुरा में एक वक्तृता देने के कारण आपको एक वर्ष की सजा हो गई। आप अंग्रेजी और हिन्दी मे धाराप्रवाह वक्तृता दे सकते थे। आप बड़े ही स्पष्टवक्ता तथा तुलनात्मक रूप से उग्र विचार के थे।

• • •